ाख्या-ग्रन्थ

षष्ठ पुष्प

विद्यानन्द विदेह

वेद के अध्ययन एवं भारतीय संस्कृति
के
ज्ञान का सर्वोत्तम एवं सर्वसुलभ साधन

स वि ता

[वेदसंस्थान का मासिक पत्र]

* देव के दिव्य काव्य वेद के अध्ययन का सर्वोत्तम साधन,
* वेदमन्त्रों की विदेह-कृत मौलिक व जीवनप्रद व्याख्यायें,
* अत्यन्त ठोस, सुपच, पौष्टिक, प्रेरणाप्रद सामग्री से भरपूर,
* गीतायोग, विदेहगाथा, पातञ्जल योग, जीवन-निर्माण, विश्वकल्याण और मानव-धर्म के प्रदर्शक लेखों से समन्वित

॥ एक एक शब्द पठनीय, मननीय और आचरणीय ॥
॥ एक एक तरंग मानव को ऊंचा उठानेवाली ॥
॥ एक एक प्रेरणा जीवन को आगे लेजानेवाली ॥
॥ एक एक चेतावनी मानव के मानस को चेतानेवाली ॥

वार्षिक मूल्य केवल तीन रुपये
विदेशों में छः शिलिंग

स्वयं ग्राहक बनिये और अपने प्रिय जनों को बनाइये ।

पता—व्यवस्थापक, वेदसंस्थान, अजमेर

यजुर्वेद-व्याख्या

षष्ठ पुष्प

मानव प्रजा के दिव्यीकरण के
प्रवाह को सतत प्रवाहित
रखने के लिये

गृह और गुरुकुल में साधनामय शिक्षा

अर्थात्

वैदिक शिक्षा-शास्त्र

विद्यानन्द विदेह

एक रुपया

राय साहब पं० ब्रह्मदत्तजी भार्गव, उपाध्यक्ष, वेदसंस्थान, अजमेर, जिनके ५०१ रु० के दान से इस पुष्प का मूल्य २५ नये पैसे कम रखा गया है।
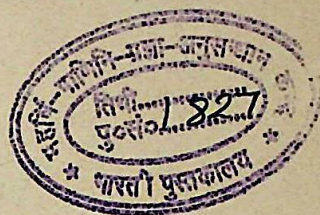
आत्म-निवेदन

यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन ।
स धीनां योगमिन्वति ।। (ऋ० १. १८. ७)

जिसके बिना सिद्ध जन की भी नहीं साधना होती सिद्ध ।
हांक रहा है योग धारणाओं का मेरी वही प्रवृद्ध ।।

वेदव्याख्याग्रन्थ का यह छटा पुष्प जनता की सेवा में मेरे हृदय के सम्पूर्ण प्यार के साथ प्रस्तुत है । पूर्व पुष्प के समान यह पुष्प भी पर्याप्त विलम्ब से प्रकाशित होरहा है । कारण प्रायः वे ही हैं, जो पञ्चम पुष्प के आत्मनिवेदन में व्यक्त किये गये हैं ।

परिस्थितियों से परास्त होना मेरी साधना-संहिता में नहीं है । परिस्थितियों को परास्त करते हुए धीरे धीरे या शीघ्र शीघ्र आगे ही आगे बढ़ते जाना मेरे आचार-शास्त्र का प्रथम सूत्र है ।

जबसे वेदसंस्थान दिल्ली का शुभारम्भ हुआ है, तबसे वेदसंस्थान, अजमेर की आर्थिक सहायता प्रायः बन्द सी रही है । सारा दान दिल्ली-भवन के निर्माण में लगता रहा है ।

प्रारम्भ किये हुए कार्य को स्थगित रखने की तो कल्पना भी नहीं करनी चाहिये । पर अर्थाभाव के कारण भी इस पुष्प के मुद्रण में विलम्ब हुआ है, इसमें सन्देह नहीं ।

वेदसंस्थान, अजमेर, द्वारा प्रकाशित साहित्य यदि साथ के साथ खपता रहे, तो उसकी आयमात्र से ही प्रकाशन का कार्य निर्बाधता और सुचारुता के साथ चलता रह सकता है । क्या इस दिशा में हाथ बटाना आपका कर्तव्य नहीं है ?

काम पूरा होगा और अवश्य होगा । पर समय कितना लगेगा—इस प्रश्न का उत्तर मुझे नहीं, वेदप्रेमियों को देना है, क्योंकि उनके सहयोग से ही यह अथाह कार्य पूरा होना है ।

वेदसंस्थान, अजमेर,
आषाढ़ कृ० १४, २०१९,
रविवार, १ जुलाई १९६२

—विद्यानन्द विदेह

यजुर्वेद-व्याख्या

छठा अध्याय

गृह और गुरुकुल में शिक्षा

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् ।
आ ददे नार्यसीदमहं रक्षसां ग्रीवा अपि कृन्तामि ।
यवोऽसि यवयास्मद्द्वेषो यवयारातीर्दिवे त्वान्तरिक्षाय त्वा
पृथिव्यै त्वा शुन्धन्ताँल्लोकाः पितृषदनाः पितृषदनमसि ।। (य० ६/१)
[य० ५/२२, ५/२६, ३७/१]

देवस्य त्वा सवितुः प्र-सवे अश्विनोः बाहुभ्यां पूष्णः हस्ताभ्याम् ।
आ-ददे नारी असि इदं अहं रक्षसां ग्रीवाः अपि-कृन्तामि ।
यवः असि यवय अस्मत् द्वेषः यवय अरातीः दिवे त्वा
अन्तरिक्षाय त्वा पृथिव्यै त्वा शुन्धन्तां लोकाः पितृ-सदनाः पितृ-सदनं असि ।।

पांचवें अध्याय में पृथिवी के दिव्यीकरण की परम्परा को चिरस्थायी रखने के लिये दिव्य दाम्पत्य के निर्माण की शिक्षा दी गयी है। इस छठे अध्याय में मानव प्रजा के दिव्यीकरण के प्रवाह को सतत सन्तत निरन्तर सुप्रवाहित रखने के लिये पृथिवी पर बसे प्रत्येक गृह और गुरुकुल को साधनास्थल बनाने की शिक्षा दी गयी है।

शिक्षा और साक्षरता में अन्तर है। साक्षरता किताबी ज्ञान की देनेवाली है। शिक्षा जीवन-निर्मात्री है। साक्षर व्यक्ति अक्षर-ज्ञान कराकर मानव सन्तति को साक्षर बना सकते हैं। शिक्षा, जिसका लक्ष्य मानव सन्तति के जीवन का सुनिर्माण है, केवल साक्षर व्यक्तियों का कार्य नहीं है। यह उन व्यक्तियों का कार्य है, जो साक्षर होने के साथ साथ जीवन-साधना के संसिद्ध साधक भी हैं।

विश्व-विद्यालय, महा-विद्यालय, विद्यालय, कॉलेज, स्कूल, पाठशाला—ये वह स्थान हैं, जहां मानव सन्तति को साक्षर बनाकर किताबी ज्ञान कराया जाता है और बहुत हुआ तो भौतिक विज्ञान सिखाया जाता है। गृहस्थी का गृह वह साधनास्थल है, जहां मानव सन्तति का जन्म होता है, जहां मानव सन्तति को शिक्षा दी जानी चाहिये और जहां सक्रिय साधना द्वारा मानव सन्तति को दिव्य देव और दिव्य देवी बनाया जा सकता है।

शिक्षा का अर्थ है साधना+साक्षरता। साक्षरता का अर्थ है साधनाहीन अक्षरज्ञान, साधनाविहीन पुस्तकाध्ययन। शिक्षा का लक्ष्य है मानव सन्तति का सुमानवीकरण। साक्षरता का लक्ष्य है उपाधियों, डिग्रियों और डिप्लोमाओं से लादकर मानव सन्तति का पशूकरण। शिक्षा का परिणाम है मोक्ष, अथवा दुःख से अत्यन्तनिवृत्ति। साक्षरता का परिणाम है भोगप्रवृत्ति, आवश्यकताओं की वृद्धि और रोगग्रस्ती।

शिक्षा ही विशुद्ध मानवता की प्रतिपादिका और दिव्य मानवता की सुसम्पादिका है। किन्तु शिक्षा का आदि स्थल विद्यालय नहीं है, गृहालय है, जिसकी आदिम शिक्षिका है माता और द्वितीय शिक्षक है पिता। माता पिता की सुशिक्षा से सुशिक्षित बालक बालिका दीक्षित होकर जब गुरुकुलों या विद्यालयों में प्रविष्ट होते हैं, तब ही आचार्य और आचार्या उन्हें दिव्य देव और दिव्य देवी बनाने में सफल होते हैं, अन्यथा नहीं।

शिक्षा का प्रारम्भ माता के गर्भ से होता है। गर्भ-स्थिति से प्रारम्भ करके जन्म के उपरान्त पांच वर्ष की आयु तक बालक बालिका को माता शिक्षा करे। तदुपरान्त आठ वर्ष की आयु तक पिता शिक्षा करे। आठ वर्ष का होजाने पर आचार्य आचार्या बालक बालिका को दीक्षित करके अपने आचार्यकुल, आचार्याकुल, गुरुकुल अथवा विद्यालय में प्रविष्ट करें। शिक्षा का यह सहज स्वाभाविक सुष्ठु क्रम है। क्रम कुछ भी हो, यह निश्चित है कि बालक बालिका का आठ वर्ष की आयु तक का समय उसके संस्कार-संस्कृति का समय है। बाल-जीवन में आठ वर्ष की आयु तक जो सु या कु संस्कार समंकित होजाते हैं, बालक बालिका उन्हीं के आधार पर सुविकसित या कुविकसित होते रहते हैं।

बालक की आयु का आठ वर्ष तक का समय बाल्यावस्था कहलाता है। बाल्यावस्था बड़ा सुकोमल समय है। इस समय में बालक बालिका को जितना शुद्ध, सुसंस्कृत और सुसंस्कारवान् बना लिया जायेगा, आगे के शेष समस्त जीवन में वह उतना ही दिव्य संदिव्य होता रहेगा। बाल्यावस्था में जीवन की चादर जितनी पवित्र, पुनीत और निर्मल रखी जायेगी, उसपर यावदायुष्य दिव्यता का रङ्ग उतनी ही सरलता और शोभनीयता के साथ खिलता चला जायेगा। बाल्यावस्था में गृहविद्यालय के भीतर जीवन का जितना परिष्कार और परिमार्जन होगा, मानव जाति के दिव्यीकरण के प्रवाह को उतना ही सुप्रवाहित और चिरप्रवाहित रखा जा सकेगा।

बाल्यावस्था मानव जीवन का मूल है। मूल को सींचने से ही वृक्ष फलते फूलते हैं। मूल के नष्ट होने पर न पत्ते लगते हैं, न फूल खिलते हैं, न फल लगते हैं। बालक मानव का पिता है। आदर्श बच्चे ही आदर्श मानव बनते हैं। दिव्य बच्चे ही दिव्य मानव बना करते हैं। महान् बच्चे ही महानात्मा, महा मानव और महा पुरुष बनते हैं। मही बालिकायें ही मही महिला और मही देवी बन सकती हैं। और वह गृह-महाविद्यालय ही है, जहां बाल्यावस्था में आदर्श, दिव्य, महान् बच्चों की सृष्टि सृष्ट की जाती है। आदर्श, दिव्य और महान् माता पिता ही हैं, जो गृह-महाविद्यालय के आचार्या तथा आचार्य पद को सुशोभनीयता के साथ सुशोभित कर सकते हैं। पत्नी ही है, जो गृहरूपी सुमहान् साधनास्थल की आदर्श साधिका सिद्ध हो सकती है। इसी भावपूर्ण भावना से पति अपनी पत्नी से कहता है—देवि ! तू (नारी असि) नारी है। मैं (त्वा) तुझे (देवस्य सवितुः प्र-सवे) देव सविता के समुत्पन्न संसार में (आ-ददे) ग्रहण करता हूं, (अश्विनोः बाहुभ्यां) अश्वियों के दो बाहुओं से, तथा (पूष्णः हस्ताभ्यां) पूषा के दो हाथों से।

नृ नये धातु से नारी शब्द का जन्म हुआ है। नारी का अर्थ है नयन करनेवाली, नेतृत्व करनेवाली, लेजानेवाली, आगे बढ़ानेवाली।

जैसाकि यजुः १/१० और ५/२२ में व्याख्यात किया गया है, (१) प्र-सव का अर्थ है प्रकृष्ट रचना, सुन्दर संसार, (२) अश्विनोः का प्रयोग हुआ है दो नासिका-छिद्रों के लिये, जिनके दो बाहु [पुरुषार्थ-साधन] हैं प्राण और अपान, (३) पूषा है शरीर का पोषण और पुष्टीकरण करनेवाला आत्मा, जिसके दो हस्त [हनन-गमन-साधन] हैं मन और बुद्धि, जिनके द्वारा आत्मा दुरितों का हनन और भद्रों का गमन [प्राप्ति] करता है।

पत्नी गृह-महासंस्था की नयनकर्त्री वह आदिम नेत्री है, जो गृह में जन्मनेवाली मानव प्रजा का सुनयन करके उनमें राष्ट्र और विश्व के आदर्श नागरिकों व नागरिकाओं का बीज-वपन करती है। पत्नी गृह-महाविद्यालय की वह आचार्या है, जो न केवल जन्म से, अपि तु गर्भ से ही, मानव सन्तति का न केवल शिक्षण, अपि च उनका परिष्करण तथा सुसंस्करण भी करती है।

बाहृ प्रयत्ने। बाहृ धातु का अर्थ है प्रयत्न, पुरुषार्थ। दो छिद्रों से युक्त नासिका प्राणेन्द्रिय है, जिसके प्राण अपान रूपी दो बाहु [पुरुषार्थ-साधन] सतत सन्तत जीवन का संचार तथा मृत्यु का संहार करते रहते हैं। प्राण शरीर में जीवित कणों का, जीवन-तत्त्वों का, संचार करता रहता है। अपान शरीर में से मृत कणों का, निर्जीव तत्त्वों का, निराकरण करता रहता है।

हस्त का अर्थ है हिंसा-साधन और गति-साधन, हनन-साधन और प्राप्ति-साधन। आत्मा के दो हस्त हैं–मन और बुद्धि। मन से संकल्प किया जाता है और बुद्धि से चिन्तन। संकल्प और चिन्तन–ये दो साधन हैं, जिनके द्वारा आत्मा दुरितों का परासुवन [निराकरण] तथा भद्रों का आसुवन [सम्प्राप्ति] करता है।

देव सविता का यह समुत्पन्न संसार दुरित और भद्र का एक सतत द्वन्द्व है। यह द्वन्द्व सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में तथा प्रत्येक पिंड में अनवरत चल रहा है। यह द्वन्द्व प्रत्येक जीवन, परिवार, समाज और राष्ट्र में निरन्तर चलता रहता है।

पत्नी वह सुनयनकर्त्री प्राणेन्द्रिय है, जो गृह में जन्मने और पलने वाली जीवनियों में प्राणवत् पवित्र जीवित जीवन का संचार और अपानवत् मल का निराकरण करके उनके जीवनों का निखार करती रहती है। पत्नी का आत्मा वह पूषा है, जो अपने शिव संकल्प तथा निर्विकार चिन्तन के द्वारा उनके दुरितों का परासुवन और उनमें भद्रों का आसुवन करती है।

पति का अपनी पत्नी के प्रति यह सम्बोधन कि "तू नारी है। देव सविता के समुत्पन्न संसार में मैं तुझे अश्वियों के बाहुओं से तथा पूषा के हस्तों से ग्रहण करता हूं" उसमें उपरि-व्याख्यात रहस्य संनिहित है। पति की वह पत्नी ही है और सन्तति की वह माता ही है, जो गृह के वातावरण में जीवन का सतत संचार तथा निखार कर सकती है और साथ ही दुरितों का परासुवन तथा भद्रों का आसुवन करती रह सकती है।

देव सविता के इस समुत्पन्न संसार में अकेले की न कोई गति है, न कोई साधना। पत्नी के बिना पति निराधार है, तो पति के बिना पत्नी सर्वथा अबला है। पति पत्नी दो जीवन एक जान हैं। इसी तथ्य का उद्घाटन करता हुआ पति कहता है—देवि ! तू नारी है, आत्मजों की जीवनियों में जीवन का संचार और निखार करनेवाली तथा उनके दुरितों का परासुवन और उनमें भद्रों का आसुवन करनेवाली है, तो (इदं अहं) यह मैं (रक्षसां ग्रीवाः अपि–कृन्तामि) राक्षसों की ग्रीवाओं को निरन्तर काटता रहता हूं।

पत्नी नारी है। पति रक्षःहन है; राक्षसों का हनन करनेवाला है। जैसाकि पूर्व अध्यायों में स्थान स्थान पर उल्लेख किया जा चुका है, मोह, क्रोध, द्वेष, काम, अहंकार और लोभ—ये षड्विकार ही वे राक्षस हैं, जो वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में महा अनर्थों का कारण होते हैं। इनका हनन अथवा निर्मूलन यदि कहीं किया जा सकता है, तो वह गृह-विद्यालय ही है, कभी किया जा सकता है तो वह शैशवावस्था तथा बाल्यावस्था ही है और यदि किसी के द्वारा किया जा सकता है तो वह पिताचार्य ही है। पत्नी का वह पति ही है और सन्तति का वह पिता ही है, जो गृह के वातावरण को निर्विकार रख सकता है। इसी तथ्य का अनुमोदन करती हुई पत्नी कहती है—

१) देव ! तू (यवःअसि) यव है, (अस्मत् द्वेषः यवय अरातीः यवय) हमसे द्वेषों को दूर कर, अरातियों को दूर कर।

"यु अमिश्रणे मिश्रणे च—पृथक् करना और मिलाना" धातु से यवः शब्द बना है। यव का अर्थ है

वियुक्त करनेवाला और युक्त करनेवाला। जो दुरित से वियुक्त और भद्र से युक्त करता है, उसे यव कहते हैं।

द्वेषः शब्द का प्रयोग यहां उपलक्षरण से उपर्युक्त षड्विकारों के लिये हुआ है।

राति का अर्थ है दान। अराति का अर्थ है अदान। अरातीः शब्द का प्रयोग हुआ है यहां अदानताओं, कृपणताओं, कार्पण्य-दोषों के लिये। उत्साहहीनता, आलस्य, प्रमाद, अव्यवस्था, अनियमितता, असंयम, मलिनता, अपवित्रता आदि स्वभावजन्य दोषों के लिये वेदों में प्राय: अरातीः शब्द का प्रयोग हुआ है।

"पति देव ! मैं नारी हूं। मैं अपने कर्तव्य का निर्वहन करूंगी। तू रक्षःहन है। तू षड्राक्षसों का हनन करेगा। इससे भी अधिक तू यव है। गृहकुलवासियों में से तुझे जहां षड्विकारों को दूर तथा अरातियों का निराकरण करते रहना है, वहां उन्हें सकल दुरितों से वियुक्त और समस्त भद्रों से युक्त भी रखना है।

२) तू (पितृ-सदनं असि) पितृ-सदन है, (पितृ-सदनाः लोकाः) पितृ-सदन लोक (त्वा दिवे, त्वा अन्तरिक्षाय, त्वा पृथिव्यै) तुझे द्यौ के लिये, तुझे अन्तरिक्ष के के लिये, तुझे पृथिवी के लिये (शुन्धन्तां) शोधते रहें।

पितृ शब्द का प्रयोग यहां पिता के अर्थ में हुआ है। सदन शब्द का प्रयोग हुआ है यहां स्थान के अर्थ में। लोकाः हैं वे लोग, जो आलोक से आलोकित हैं, जो अनुभव और ज्ञान की ज्योति से ज्योतित हैं।

मानव में मस्तिष्क है द्यौ-स्थानीय, हृदय है अन्तरिक्ष-स्थानीय और देह है पृथिवी-स्थानीय।

"पते ! मैं मातृ-सदन हूं, मातृ-स्थानीय हूं। तू पितृ-सदन है, पितृ-स्थानीय है। मैं माता के पुनीत पद पर प्रतिष्ठित हूं। तू पिता के पवित्र पद पर सुशोभित है। मेरा कार्य है सन्तान का लालन, पालन, पोषण और सुसंस्कृतिकरण तथा परिष्कार, तो तेरा कर्तव्य है उनके मस्तिष्क, हृदय तथा उनके देह का शोधन। उनके मस्तिष्क के शोधन से उन्हें प्रबुद्ध करना, उनके हृदय के शोधन से उनका परिष्कार करना, उनके देह के शोधन से उन्हें संस्कारवान् बनाना—यह तेरा काम है। एतदर्थ पितृ-स्थानीय लोग अपने अनुभव और ज्ञान से सदा तेरा शोधन, बोधन और परिष्कार करते रहें।

नारी है तू,
ग्रहण करता हूं तुझे मैं,
देव सविता के प्रसव में,
अश्वियों के बाहुओं से,
और हस्तों से पूषा के।
काटता रहता हूं यह मैं,
ग्रीवाओं को राक्षसों की।
यव है तू कर दूर तू हमसे,
द्वेषों और अरातियों को।
तू है पितृ-सदन
आलोकित वे लोक पितर जन,
रहें शोधते तुझे द्यौ के लिये,
अन्तरिक्ष के लिये और पृथिवी के लिये ॥

अग्रेणीरसि स्वावेश उन्नेतृणामेतस्य वित्तादधि त्वा स्थास्यति देवस्त्वा सविता मध्वानक्तु सुपिप्पलाभ्यस्त्वौषधीभ्यः। द्यामग्रेणास्पृक्ष आन्तरिक्षं मध्येनाप्राः पृथिवीमुपरेणादृंहीः ॥ (य०६/२)

अग्रे-नीः असि सु-आवेशः उत्-नेतॄणां एतस्य वित्तात् अधि त्वा स्थास्यति देवः त्वा सविता मध्वा आ-नक्तु सु-पिप्पलाभ्यः त्वा ओषधीभ्यः। द्यां अग्रेण अस्पृक्षः आ अन्तरिक्षं मध्येन अप्राः पृथिवीं उपरेण अदृंहीः ॥

पति के प्रति अपने आत्मनिवेदन को जारी रखती हुई पत्नी कहरही है—

१) पिता-स्थानीय होने के नाते तू (उत्-नेतॄणां अग्रे-नीः सु-आवेशः असि) उत्-नेताओं का आगे-लेजानेवाला तथा सु-आवेश है, (एतस्य वित्तात्) इसका ज्ञान कर, इसका ध्यान रख।

उत् का अर्थ है ऊंचा। उत्-नेता हैं वे ऊंचे उठते हुए, उदीयमान, आरोहण करते हुए, उगते हुए, शिशु, जो आज माता पिता की गोद में और गृह-महासंस्था के आंगन में खेल रहे हैं। आज के शिशु अथवा सन्तान ही परिवार, समाज और राष्ट्र के उदीयमान नेता हैं।

अग्रे-णीः=आगे लेजानेवाला, समुन्नत करने-वाला, जीवन की प्रत्येक सत्य, शिव और सुन्दर दिशा में आगे बढ़ानेवाला, जीवन-उन्नायक, विधि-विधायक, मार्ग-दर्शक।

स्वावेशः=सु-आ-वेशः । सु सुष्ठुतया, आ समन्तात् [पूर्णतया], वेश प्रवेश। सुष्ठुतया और पूर्णतया प्रवेश करने कराने का नाम है स्वावेश। किसमें क्या प्रवेश करने कराने वाला ? जीवन में जीवन का प्रवेश करने कराने वाला, जीवन में वास्तविक जीवन का संचार करनेवाला।

"पते ! उत्-नेताओं का पिता होने के नाते तू उनका अग्रणी तथा स्वावेश है। तू उनका अग्रणी तथा जीवन-सम्पादक है। इस तथ्य का तू सदा ध्यान रख"।

२) (देवः सविता त्वा अधि-स्थास्यति) देव सविता तुझे अधिष्ठातेगा, देव सविता तुझपर अधिष्ठातृत्व करेगा, देव सविता तेरा अधिष्ठाता होगा।

देव सविता है अखिल दिव्यताओं से युक्त सृष्टि का रचयिता, संचालक तथा प्रकाशक परमात्मा।

"देव सविता तेरा अधिष्ठाता होगा", इस वाक्य में गहन आस्तिक्य संनिहित है। अधिष्ठाता अपने अधीनस्थ पर दृष्टि रखता हुआ देखता रहता है कि वह [अधीनस्थ] अपने कर्तव्य का यथावत् पालन कररहा है या नहीं। जिस प्रकार सृष्टि की रचना करके देव सविता अपने प्राकृत नियमों के द्वारा निरन्तर उसका संचालन तथा प्रकाशन कररहा है, उसी प्रकार स्वोत्पन्न सन्ततिरूपी सृष्टि का सुसंचालन और प्रकाशन करना पिता का कर्तव्य कर्म और धर्म है। देव सविता देखरहा है कि प्रत्येक पिता अपनी सन्तति का सुष्ठ संचालन और ज्योतिष्करण कररहा है या नहीं। जो पिता ऐसा नहीं कररहा, वह प्रभु के नियम का पालन नहीं कररहा है और वह विधाता के विधान से दुःख की मार खायेगा। उसकी सन्तति भ्रष्ट होकर दारुण दुःख का कारण होगी।

३) देव सविता (त्वा मध्वा) तुझे मधु से, (त्वा सु-पिप्पलाभ्यः ओषधीभ्यः) तुझे सुफला ओषधियों से, (आ-नक्तु) सम्पूर्णतया सींचे।

मधु नाम शहद का है। जिन वनस्पतियों पर सुन्दर सुगन्धित पुष्प लगते हैं, मधु-मक्षिकायें उन

पुष्पों में से मधु का संचय करती हैं। मधु पुष्पों के हृदयों का रस है। मधु में पुष्पों के हृदयों का रस तथा सुगन्धि संनिहित है। सुफला वनस्पतियों पर ही मधुप्रद पुष्प खिलते हैं, अफला या कुफला वनस्पतियों पर नहीं।

ओषधियों का प्रयोग यहां उन वनस्पतियों के लिये हुआ है, जो सुफला होती हैं, जिनपर प्रथम मधुप्रद सुन्दर सुगन्धित पुष्प खिलते हैं और बाद में स्वादु सुफल लगते हैं। ओषधिर्वै दोषधिः। ओषधि निस्सन्देह दोषनिवारक होती है।

मधु शब्द का प्रयोग हुआ है यहां पारिवारिक मधुर आनन्द के लिये। सुफला ओषधियां हैं सुन्दर सुशील सुसोम्य पुत्र-पुत्रियां। ये ही हैं परिवार-उपवन की वे सर्वदोषदुःखनिवारक ओषधियां, जिनसे माता पिता और परिवार परिजन के विषाद का शमन और आनन्द-मधु का दोहन होता है।

पारिवारिक आनन्द सर्वोपरि आनन्द है। पारिवारिक मधु सर्वातिशय मधुर मधु है।

जीवन है परिपूर्ण, जहां पहलू में पत्नी।
और जहां चरणों में बैठे हुए पुत्र और पुत्री॥
जीवन है वहां नरक, जहां पत्नी झगड़ालू।
और जहां शिर पर चढ़ते हैं पुत्र-पुत्रियां॥
निश्चय वहां सुस्वर्ग, जहां पति सोम्य संयमी।
और जहां हों आज्ञाकारी पुत्र-पुत्रियां॥
जीवन वहां अभिशाप, जहां पति क्रोधी व्यसनी।
और जहां पर पुत्र-पुत्रियां कहा न मानें॥

"पते! यदि तू इस गृह-सृष्टि का सुसंचालन तथा सुप्रकाशन करेगा तो देव सविता तुझे पारिवारिक आनन्द-मधु से तथा सुसन्तानरूपी सुफला ओषधियों से सींचेगा"।

४) तूने (अग्रेण द्यां अस्पृक्षः) अग्र से द्यौ को स्पर्श किया है, (मध्येन अन्तरिक्षं आ-अप्राः) मध्य से अन्तरिक्ष को पूरा है, (उपरेण पृथिवीं अदृंहीः) उपर से पृथिवी को विकसित किया है।

मानव शरीर का अग्रभाग है मस्तिष्क, मध्य भाग है हृदय और उपर भाग है स्थूल शरीर तथा ज्ञानेन्द्रियां व कर्मेन्द्रियां। मस्तिष्क अधिष्ठान है द्यौ का, दिव्य-विचार-रूपी नक्षत्रों का। हृदय अधिष्ठान है अन्तरिक्ष का, अन्तः ईक्षण का, अन्तर्भावनाओं का, स्नेहस्निग्ध प्रिय प्रियताओं का। उपर अधिष्ठान है पृथिवी का, ज्ञान-कर्म-सम्पादिका पार्थिव देह-संस्थान का। उपर का अर्थ है उप-र, उपरमण करनेवाला। मस्तिष्क और हृदय संचालक शक्तियां हैं। उपर है उपरमित अथवा संचालित शक्ति।

"पते! तू निस्सन्देह मधु से तथा सुफला ओषधियों से सतत सिंचित रहेगा, क्योंकि तूने (१) अपने मस्तिष्क से द्यौ का स्पर्श किया है, अपने मस्तिष्क में दिव्य विचारों को संजोया है, (२) अपने हृदय को सुन्दर सुशोभन भावनाओं से पूर लिया है, (३) अपने उपर को शारीरिक सम्पदा से सुविकसित किया है"।

विचार, भावना और शरीर से सम्पन्न पिता ही अपनी सन्तति को सर्वतः योग्य और सक्षम बनाता है।

तू है अग्रणी सु-आवेश उन्नेताओं का,
सदा ध्यान रख इसका।
देवः सविता तुझे अधिष्ठातेगा,
सींचे वही तुझे मधु से,
और सुफला ओषधियों से।
किया है तूने अग्रभाग से स्पर्श द्यौ का,
मध्य भाग से तूने पूरा है हृदय को,
उपर भाग से तूने विकसा है पृथिवी को।

सूक्ति—देवस्त्वा सविता मध्वानक्तु।
देव सविता तुझे मधु से सींचे॥

या ते धामान्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः ।
अत्राह तदुरुगायस्य विष्णोः परमं पदमव भारि भूरि ।
ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि रायस्पोषवनि पर्यूहामि ।
ब्रह्म दृंह क्षत्रं दृंहायुर्दृंह प्रजां दृंह ॥ (य०६/३)

या ते धामानि उश्मसि गमध्यै यत्र गावः भूरि-शृंगाः अयासः ।
अत्र अह तत् उरु-गायस्य विष्णोः परमं पदं अव-भारि भूरि ।
ब्रह्म-वनि त्वा क्षत्र-वनि रायःपोष-वनि परि-ऊहामि ।
ब्रह्म दृंह क्षत्रं दृंह आयुः दृंह प्र-जां दृंह ॥

परिवार के समस्त व्यक्तियों की ओर से प्रातिनिध्यात्मक रीति से पति को सम्बोधन करती हुई पत्नी कहरही है—

१) पते ! हम (ते या धामानि) तेरे जिन धामों को (गमध्यै) प्राप्त करने के लिये (उश्मसि) कामना कररहे हैं, (यत्र भूरि-शृंगाः गावः अयासः) जहां बहुत सींगोंवाली गायें आया/प्राप्त हुआ करें ।

या धामानि, यानि धामानि, का प्रयोग यहां साधनाजन्य जीवन की तेजोमयी स्थितियों के लिये हुआ है । यों सामान्यतया धाम का अर्थ है स्थान, गृह, तेज और देह ।

यहां दो सींगोंवाली गौओं का नहीं, बहुत सींगोंवाली गौओं का उल्लेख है । गाव इति रश्मिनामसु पठितम् । गावः शब्द का प्रयोग ज्ञानरश्मियों के लिये हुआ है, और शृंग शब्द का प्रयोग हुआ है प्रकाश के अर्थ में । एक-एक ज्ञानरश्मि में से असंख्य प्रकाश, असंख्य ज्योतियां, उद्रोहित तथा प्रसारित होती हैं । आदर्श दम्पति का आदर्श गृह वह आदर्श प्रकाश-संस्थान है, जिसमें उसका प्रत्येक सदस्य बहुप्रकाशमयी ज्ञानरश्मियों से द्योतित और ज्योतित किया जाता है ।

"पते ! तेरे जिस प्रकाश-पुञ्ज गृह में हम निवास कररहे हैं, उसमें हम जीवन की जिन जिन तेजोमयी स्थितियों की प्राप्ति की कामना करते हैं, हमें उनकी प्राप्ति करा । तेरा गृह वह ज्योतिष्केन्द्र हो, जहां हमें बहुत प्रकाशोंवाली ज्ञानरश्मियां सदा सर्वदा सम्प्राप्त हुआ करें" ।

अब आगे स्वयं अपनी ओर से आत्मप्रेरणा करती हुई पत्नी कहती है—

२) (अत्र अह) यहां ही, इस गृह में ही (उरु-गायस्य विष्णोः तत् भूरि परमं पदं) उरु-गाय विष्णु का वह भूरि परम पद (अव-भारि) अव-धारित है ।

सबमें प्रविष्ट अथवा व्यापक होने से परमात्मा विष्णु है । विष्णु उरु-गाय है । उरु-बहुत, सर्व । उरु-गाय=बहु-गीय, बहुत गाया जानेवाला, बहु-गीयमान, बहु-कीर्ति, बहु-स्तुत्य । बहुजन सर्वजन जिसका गुणगान करते हैं, इससे विष्णु उरु-गाय है । सर्वातिशय गुणगान किया जाने के कारण भी विष्णु उरु-गाय है । शरीर में प्रविष्ट होने से आत्मा भी विष्णु है ।

भूरि शब्द का प्रयोग हुआ है यहां सर्वातिशयता के अर्थ में, परम का श्रेष्ठ के अर्थ में, और पद का प्राप्ति-स्थान अथवा साधना-स्थल के अर्थ में ।

"पते ! तेरा यह गृह एक साधारण स्थान नहीं है । यह तो वह अतिशय श्रेष्ठ साधना-स्थल है, जहां उरु-गाय विष्णु की प्राप्ति की जाती है । यह तो वह श्रेष्ठतम धाम है, जहां विष्णु का साक्षात्कार किया जाता है", गहन विचारशीला विदुषी पत्नी की इस उक्ति में एक पुनीत प्रचेतना संनिहित है ।

गृहस्थी का गृह भोगालय और रोगालय नहीं है। यह तो वह योगालय अथवा साधनालय है, जिसमें आत्मविष्णु तथा प्रमात्मविष्णु का साक्षात्कार किया जाता है। यह तो वह पुनीत धाम है, जिसमें आत्म-विष्णु आत्म-अवस्थित होकर परमात्म-विष्णु में प्रविष्ट होता है। यह तो वह आश्रम है, जहां लोक और परलोक की श्रमसाध्य साधना की जाती है।

३) मैं (त्वा ब्रह्म-वनि क्षत्र-वनि रायःपोष-वनि) तुझ ब्रह्म-सेवी, क्षत्र-सेवी तथा आत्मैश्वर्य की पुष्टि के सेवन करनेवाले को (परि-ऊहामि) सर्वतः वितर्कती हूं, सर्वतः विश्वास दिलाती हूं, आश्वस्त करती हूं।

ब्रह्म शब्द वेद में अधिकांश स्थलों पर ज्ञान अथवा विवेक के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। ज्ञानस्वरूप होने से परमात्मा ब्रह्म है। ज्ञानमय होने से आत्मा ब्रह्म है। ज्ञान का भण्डार होने से वेद की भी ब्रह्म संज्ञा है। ज्ञानपूर्वक रचा जाने से ब्रह्माण्ड का नाम भी ब्रह्म है। ब्रह्म-वनि का अर्थ है ज्ञान-सेवी, ज्ञान का सेवन करनेवाला, ज्ञानी, विवेकी।

क्षत्र नाम है शक्ति अथवा क्षमता का। क्षत्र-वनि का अर्थ है क्षमता-सेवी, क्षमता का सेवन करनेवाला, सक्षम। क्षमतावान् ही क्षत्र [राज्य, साम्राज्य] का सम्पादन करते हैं। क्षमतावान् ही राज्य साम्राज्य का संचालन करते हैं। क्षमतावान् ही गृह-साम्राज्य का सुसंचालन करते हैं।

रायःपोष-वनि, आत्मैश्वर्य की पुष्टि का सेवन करनेवाला, आत्मैश्वर्य का सतत संवर्धन करनेवाला, जो होता है, वह सदा सर्वदा आत्मसंबल से युक्त रहता हुआ साधना के पथ पर समारूढ़ रहता है।

पत्नी के पति और सन्तति के पिता के लिये यह आवश्यक है कि वह विवेकी, सक्षम तथा आत्म-संबलोपेत हो, अन्यथा वह गृहमहाविद्यालयरूपी महान् संस्था का यथावत् संचालन न कर सकेगा। इन तीनों गुणों से युक्त होने पर ही वह इस कार्य में अपनी सफलता के विषय में सर्वतः आश्वस्त हो सकता है। इस रहस्य का उद्घाटन करने के लिये ही वेदमाता ने पत्नी के मुख से कहलवाया है, "पते ! तू ज्ञानी है, सक्षम है, आत्मसंबल से युक्त है। मैं तुझे आश्वस्त करती हूं, तुझे विश्वास दिलाती हूं, कि तू इस गृह को उरुगाय विष्णु का परम पद बनाये रखने में सफलकाम होगा। तू इस सुमहान् संस्था का सुसंचालन करने में पूर्ण साफल्य प्राप्त करेगा"। आत्मविश्वास में ही विजय और साफल्य का निवास है। विश्वासः फलति सर्वत्र। विश्वास, आत्मविश्वास, जहां है, वहां विजय साफल्य में सन्देह के लिये कोई स्थान नहीं।

४) (ब्रह्म दृंह) ज्ञान को बढ़ा, (क्षत्रं दृंह) क्षमता को बढ़ा, (आयुः दृंह) जीवन को बढ़ा, (प्रजां दृंह) प्रजा को बढ़ा।

दृह वृद्धौ, वृद्धि करना, बढ़ाना, उन्नत करना।

प्रजा शब्द का प्रयोग हुआ है यहां प्र-जा, प्रकृष्ट-सन्तान, सुसन्तान के अर्थ में।

इस सूक्ति में पत्नी ने गहन कामना-मिश्रित उत्प्रेरणा की है—

"पते ! ज्ञान, क्षमता तथा आत्मसंबल से युक्त जीवन पर आधारित होकर ही तू स्व सन्तान को सुसन्तान बना सकेगा। अतः दिन प्रति दिन तू अपने ज्ञान का वर्धन, अपनी क्षमता का संवर्धन तथा अपने जीवन का उन्नयन करता हुआ अपनी प्रजा को समुन्नत करता रह। उनके जीवन में संविकास करता रह। इन कलियों को विश्व-वाटिका का सुन्दर सुगन्धित पुष्प बना"।

तेरे जिन धामों की प्राप्ति-हेतु,
निरन्तर सतत कामना हम करते हैं,
तेरा गृह हो,
जहां भूरि-प्रकाशमयी रश्मियां प्राप्त हों

यहां ही बहु-स्तुत्य विष्णु का,
अव-धारित वह भूरि परम पद ।
मैं आश्वस्त सर्वतः करती,
हूं तुझ ब्रह्मवनि को,
क्षत्रवनि को,
रायस्पोषवनि को ।
बढ़ा ब्रह्म को, बढ़ा क्षत्र को,
बढ़ा आयु को, बढ़ा प्रजा को ॥

सूक्तिः—अत्राह तदुरुगायस्य विष्णोः परमं पदम् ।
यहां ही है बहु-स्तुत्य विष्णु का वह परम पद ॥
ब्रह्म दृंह ।
ज्ञान बढ़ा ॥
क्षत्रं दृंह ।
क्षमता बढ़ा ॥
आयुः दृंह ।
जीवन को उन्नत कर ॥
प्रजां दृंह ।
प्रजा को उन्नत कर ॥

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे ।
इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ (य० ६/४)
[ऋ० १.२२.१९, य० १३/३३, साम १६७१, अ० ७.२६.६]

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतः व्रतानि पस्पशे ।
इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥

पति को सम्बोधन करती करती भावविभोर होकर वह आकाश की ओर देखने लगती है और अपनी दृष्टि को चारों दिशाओं में घुमाकर वह मानों सर्वजनों को सम्बोधन करती हुई सी कहती है—

१) (विष्णोः कर्माणि पश्यत) विष्णु के कार्यों को देखो, (यतः) जिस प्रकार से वह (व्रतानि पस्पशे) व्रतों को बांधे हुए है ।

व्रतानि शब्द का प्रयोग यहां प्राकृत नियमों के लिये हुआ है ।

सृष्टि के सृजन, धारण तथा प्रलयन में जितने कार्य होरहे हैं, वे सब विष्णु की व्याप्ति से प्राकृत नियमों के द्वारा होरहे हैं । देखिये, विष्णु के समस्त प्राकृत कार्यों को विष्णु के प्राकृत नियमों ने किस प्रकार कसकर बांधा हुआ है ।

"पते ! जिस प्रकार विष्णु के समस्त कार्य निर्धारित नियमों के आधीन होरहे हैं, उसी प्रकार तेरी गृहसाधना के समस्त कार्य व्रतों से बद्ध सम्बद्ध होने चाहियें" ।

२) विष्णु प्रत्येक (इन्द्रस्य) इन्द्र का (युज्यः सखा) युक्त सखा है ।

इन्द्रियों का स्वामी होने से आत्मा का नाम इन्द्र है ।

विष्णु प्रत्येक आत्मा का युक्त सखा है । विष्णु किसी भी आत्मा से कभी एक क्षण के लिये भी वियुक्त नहीं होता है । विष्णु आत्मा-आत्मा से बंधा हुआ है । जिसे जिससे स्नेह होता है, वह उसीसे युक्त सुबद्ध रहता है । स्नेह ही कर्म का प्रेरक है । जिसे जिससे स्नेह होता है, उसी के सुख आनन्द के लिये वह असंख्य कर्म करता है । विष्णु आत्मा से स्नेह करता है । इसीसे वह आत्मा से युक्त रहता है और इसीसे वह आत्मा के सुख आनन्द के लिये असंख्य कर्म करता है" ।

"पते ! जिस प्रकार विष्णु आत्मा-आत्मा से युक्त है, उसी प्रकार तू भी अपनी प्रजा के प्रत्येक व्यक्ति से युक्त रह और उनके सुख सौभाग्य के लिये व्रतानुकूल नियमपूर्वक कर्मों का अनुष्ठान कर" ।

विष्णु के कर्मों को देखो,
जिस प्रकार बांधे हुए हैं वह कर्मों को।
आत्म-आत्म का युक्त सखा वह ॥

सूक्ति—विष्णोः कर्माणि पश्यत।
विष्णु के कार्यों को देखो ॥

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।
दिवीव चक्षुराततम् ॥ (य० ६/५)
[ऋ० १. २२. २०, साम १६७२, अ० ७. २६. ७]

तत् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।
दिवि इव चक्षुः आ-ततम् ॥

वह विष्णु आत्मा-आत्मा से युक्त है, परन्तु साधारण जनों को उसकी अनुभूति अथवा प्रतीति नहीं होती। साधारण जन तो विष्णु के प्राकृत कर्मों को देखकर ही उसकी सत्ता में विश्वास करते हैं। कर्ता का साक्षात्कार न होने पर भी कृतियों को देखकर कर्ता के प्रति आस्था होती है। इस भाव की अभिव्यक्ति पत्नी ने अपने पति को पूर्व मन्त्र में कराई है।

यहां वह कहरही है—पते ! (सूरयः) सूरि जन (विष्णोः तत् परमं पदं सदा पश्यन्ति) विष्णु के उस परम पद को सदा देखते हैं। कौनसे पद को ? जो (दिवि चक्षुः इव आ-ततं) आकाश में चक्षु के समान फैला-व्यापा हुआ है।

सूर्य के समान जो ज्ञानरश्मियों तथा अन्त-र्ज्योतियों से युक्त होते हैं, उन्हें सूरि कहते हैं।

चक्षुरादित्यः। चक्षुस्तदसौ सूर्यः। चक्षु नाम आदित्य का है। वह सूर्य वह चक्षु है। दर्शन-साधन होने से सूर्य चक्षु है। जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणों से तथा अपने प्रकाश से आकाश में व्यापता है, उसी प्रकार विष्णु अपनी विश्वव्यापिनी ज्योतियों से इस अनन्त असीम अखिल आकाश में व्याप रहा है। विष्णु की सर्वव्याप्ति ही विष्णु का वह परम पद है, जो सूरियों की दृष्टि में सदा समाया रहता है और सूरि जन जिसका सदा अवलोकन करते रहते हैं।

"पते ! विष्णु के कर्मों को देखकर विष्णु के प्रति आस्थावान् होने मात्र से ही हमें सन्तुष्ट नहीं होना है। हमें तो इस गृह में आत्मसाधना द्वारा सूरि बनकर उसके उस परम पद का, उसके उस ज्योतिष्मान् निज स्वरूप का, साक्षात् दर्शन करना है, उसका जो पद अखिल आकाश में एकरूप एकसार व्याप रहा है।

सूरि सदा देखते रहते हैं विष्णु के,
उस परम पद को, जो व्यापा हुआ है,
आकाश में सूर्य के समान ॥

सूक्ति— विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।
ज्ञानी जन विष्णु के परम पद को सदा देखते हैं ॥

परिवीरसि परि त्वा दैवीर्विशो व्ययन्तां परीमं यजमानं रायो मनुष्याणाम् । दिवः सूनुरस्येष ते पृथिव्याँल्लोक आरण्यस्ते पशुः ॥ (य० ६/६)

परि-वीः असि परि त्वा दैवीः विशः वि-अयन्तां परि इमं यजमानं रायः मनुष्याणाम् । दिवः सूनुः असि एषः ते पृथिव्यां लोकः आरण्यः ते पशुः ॥

विष्णु के साक्षात्कार की कामना व्यक्त करती करती, अब वह विष्णु से कामना करने लगती है—

१) तू (परि-वीः असि) परि-वी है।

वी का अर्थ है व्यापना और प्रकाशना। परि-वी का अर्थ है सब ओर सर्वत्र व्यापने और प्रकाशने वाला। सर्वव्यापक होने से विष्णु सबमें सर्वत्र प्रकाशता रहता है।

"विष्णो! तू सर्वव्यापक और सर्वप्रकाशक है"।

२) (दैवीः विशः) दैवी प्रजायें (त्वा) तुझे (परि-वि-अयन्तां) परि-वि-अयन करें, सर्वतः प्रापित रहें।

मानव प्रजायें दो प्रकार की हैं- दैवी और आसुरी। दैवी प्रजायें सदा सर्वदा सर्वत्र अपनी भावना द्वारा विष्णु को प्रापित रहती हैं।

"विष्णो! इस गृहकुल के निवासी हम सब तेरी दैवी प्रजा हैं। तेरी ये दैवी प्रजायें तुझे सर्वतः प्रापित रहें, ताकि वे तेरे प्रकाश से प्रकाशित होकर व्यापनशील होजायें"।

३) विष्णो! हमारे (इमं यजमानं) इस यजमान को (मनुष्याणां रायः) मनुष्यों का आत्मैश्वर्य, मानवों की आत्मनिजता, मनुष्यों की आत्मश्रद्धा (परि) सर्वतः [प्रापित रहे]।

"विष्णो! मेरा यह पति इस गृहयज्ञ का श्रद्धेय यजमान है। गृहकुल-वासी हम सब मानवों की आत्मश्रद्धा इसके प्रति सर्वतः प्रापित रहे"।

श्रद्धया विन्दते वसु। श्रद्धया सत्यमाप्यते। मानव श्रद्धा से सकलैश्वर्य प्राप्त करता है। श्रद्धा से ही सत्य की प्राप्ति होती है। जब पत्नी की पति के प्रति और सन्तान की पिता के प्रति आत्मश्रद्धा होती है, तब ही वे उससे ऐश्वर्य और सत्य की यथावत् प्राप्ति कर पाते हैं।

४) विष्णो! तू (दिवः सूनुः असि) दिव्यता का प्रेरक है, प्रकाश का संचारक है।

"विष्णो! तू दिव्यता का प्रेरक है। मेरे पति और परिवार को दिव्यता से युक्त और प्रकाश से प्रकाशित रख"।

४) (पृथिव्यां) पृथिवी पर (एषः लोकः) यह लोक, यह जन-मानव (ते) तेरा है, (आरण्यः पशुः ते) जंगली पशु तेरा है।

"विष्णो! मानव और पशु, उभय प्रजायें, तेरी हैं। हमारे जीवनों से तेरी उभय प्रजाओं की यथावत् सुसेवा हो। हमारे जीवन लोकोपयोगी तथा परोपकारमय हों"।

परि-वी है तू,
रहें प्रापित तुझे,
प्रजायें दैवी सर्वतः।
इस यजमान सुगृहपति को,
रहे प्रापित सदा सर्वतः,
सकल मानवों का श्रद्धा-धन।
तू है दिव्यता का संचारक,
पृथिवी पर यह लोक है तेरा,
और आरण्य पशु है तेरा॥

उपावीरस्युप देवान् दैवीर्विशः प्रागुरुशिजो वह्नितमान् ।
देव त्वष्टर्वसु रम हव्या ते स्वदन्ताम् ।। (य० ६/७)

उप-अवीः असि उप देवान् दैवीः विशः प्र-अगुः उशिजः वह्नितमान् । देव त्वष्टः वसु रम हव्या ते स्वदन्ताम् ।।

विष्णु से अपनी मनःकामनायें व्यक्त करती हुई पत्नी विनय करने लग जाती है—

१) (देव त्वष्टः) दिव्य त्वष्टः ! तू (उप-अवीः असि) उप-अवी है ।

तक्षू त्वक्षू तनूकरणे धातु से त्वष्टा शब्द सिद्ध होता है । जो छीलकर, तराशकर, सूक्ष्म करके, सुन्दर आकृतियां आकृत करता है, उसे त्वष्टा कहते हैं । त्वष्टा वै रूपकृद्रूपपतिः । त्वष्टा हि रूपाणि विकरोति । त्वष्टा वै रूपाणामीशे । त्वष्टा निश्चय से रूपकृत् रूपपति है । त्वष्टा ही विविध रूपों को बनाता है । त्वष्टा निश्चय से सौन्दर्यों का स्वामी है । आचार्य त्वष्टा है, जो अपने विद्यार्थियों या शिष्यों को सूक्ष्म बुद्धि से युक्त और विविध गुणसौन्दर्यों से सुयुक्त करता है । माता त्वष्टा है, पिता त्वष्टा है, जो अपने सन्तान का तनूकरण और जीवननिष्पादन करके उन्हें सर्वतः सुन्दर बनाते हैं । पति त्वष्टा है । पत्नी त्वष्टा है । विष्णु भी तो त्वष्टा है, वह दिव्य त्वष्टा, जो रूप-रूप में सुरूपता का प्रतिरूपण कररहा है, जिसने सौन्दर्यों से सुसुन्दर सृष्टि की रचना की है । विष्णु को ही यहां देव त्वष्टः कहकर सम्बोधन किया गया है ।

उप का अर्थ है समीप । अवी का अर्थ है रक्षा करनेवाला । समीप आये की जो रक्षा करता है, शरणागत का जो प्रतिपालन करता है, उसे उपावी कहते हैं । सचमुच देव त्वष्टा वह उपावी है, जो अपने शरणागत की सर्वतः रक्षा करता है । जो भी आत्मना उसके समीप जाता है, जो भी आत्म-भावना से उससे सुयुक्त होता है, वह दिव्य त्वष्टा पाप ताप सन्ताप से उसकी रक्षा करके उसके जीवन का सुरूपकरण करता है, उसमें सर्वाङ्गीण दिव्यता की प्रस्थापना कर देता है ।

"देव त्वष्टः ! इस गृहकुल की प्रजा तुझे अर्पित रहे और तू इस प्रजा की सदा सर्वदा सर्वतः रक्षा करता रहे" ।

२) देव त्वष्टः ! इस गृहकुल की (दैवीः विशः) दैवी प्रजायें (उशिजः वह्नितमान् देवान्) कमनीय वाहकतम देवों को (उप प्र-अगुः) प्राप्त हुआ करें ।

देवान् शब्द का प्रयोग यहां दिव्य गुणों से युक्त सिद्ध आप्त जनों अथवा विद्वान् अतिथियों के लिये हुआ है । देवान् के लिये जो दो विशेषण प्रयुक्त हुए हैं, उनके अर्थ विचारणीय हैं । उशिजः का अर्थ है प्रातःकालीन उषा के समान मनोहारी और चित्ताकर्षक, उषा के समान सुन्दर और शोभनीय । वह्नितमः का अर्थ है अतिशय वहन करनेवाले, सर्वातिशय अभीष्ट तक पहुंचानेवाले । जो स्वयं पहुंचे हुए होते हैं, वे ही अन्यों को पहुंचाते हैं । वह्नितमः शब्द का प्रयोग यहां आप्त के अर्थ में हुआ है ।

जिस गृहकुल की प्रजा कमनीय आप्त देवों से संगत होती रहती है, वह प्रजा निस्सन्देह दैवी प्रजा बन जाती है । कमनीय आप्त देवों की संगति के दो ही प्रकार हैं—(१) उनके निवास-स्थान पर जाकर उनके सत्संग का लाभ उठाना, (२) अपने गृह में ठहराकर उनका आतिथ्यमय सत्संग प्राप्त करना । कमनीय आप्त देवों को अपने अपने गृह में अतिथि-रूप में ठहराने से जो लाभ होता है, वह शब्दों द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता । जिन गृहकुलों में ऐसे देवों का आगमन तथा निवास होता रहता है, उन

गृहों की प्रजा निश्चय ही दैवी प्रजा होगी, देवकोटि की प्रजा होगी। यह सौभाग्य देव त्वष्टा की कृपा और उसके आशीर्वाद से प्राप्त होता है। एक उत्तम कोटि की दैवी गृहणी प्रभु से सदैव यह आशीर्वाद चाहती रहती है कि उसके गृह में सदा ही कोई न कोई कमनीय आप्त देव अतिथिरूप में निवास करते रहें। धन्य है वह गृहकुल, जिसमें ऐसी दैवी गृहणी सुशोभित है और धन्य है वह पति, जिसने ऐसी भार्या का वरण किया है।

३) देव त्वष्टः ! (वसु रम) वसु को रमणीय कर, वसु को रमणीय रख।

वसु नाम धन का है। वसु असंख्य और अनन्त हैं। प्राण वसु है। जीवन वसु है। प्रकाश वसु है। पशु वसु है। भूमि वसु है। राष्ट्र वसु है। धर्म वसु है। ज्ञान वसु है। गृह वसु है। परिवार वसु है। वसु का प्रयोग यहां गृहरूपी अथवा परिवाररूपी धन के लिये हुआ है।

दैवी भार्या के मुख से वेदमाता ने "वसु रम" कहलवाकर एक अमूल्य विज्ञान का उद्घाटन किया है। गृहकुल का वातावरण अतिशय रमणीय रहना चाहिये। गृह का वातावरण अनवरत रमणीयता से ओत प्रोत रहे। स्वच्छता, पवित्रता, रोचकता, सुन्दरता, प्रसन्नता, मोद, प्रमोद, विनोद, प्रेम, समादर, शिष्टता, मर्यादित स्वतन्त्रता, समता, मधुरता, प्रियता-गृहरमणीयता के अनिवार्य अंग हैं। रमणीय वातावरण में दैवी प्रजा का निर्माण होता है। जहां दैवी प्रजा निवास करती है, वहां रमणीयता निवास करती है।

४) देव त्वष्टः ! इस गृहकुल के निवासी (ते हव्या स्वदन्तां) तेरी हवियों को चखें, तेरी हवियों का आस्वादन करें।

दिव्य त्वष्टा की हवियां दिव्य हवियां हैं। दैवी प्रजायें दिव्य हवियों का ही सेवन किया करती हैं। हव्या शब्द का प्रयोग यहां दैवी सम्पदाओं के लिये हुआ है। दैवी सम्पदाओं के सेवन से गृहकुल की प्रजा दैवी प्रजा बनेगी। आसुरी सम्पदाओं के सेवन से वह आसुरी प्रजा बनेगी। देवी ने यहां देव त्वष्टा से कितनी सुन्दर प्रार्थना की है—"देव त्वष्टः ! इस गृहकुल की दैवी प्रजायें सदा तेरी दैवी सम्पदाओं का सेवन करें, आसुरी सम्पदाओं का नहीं"। जो कुछ भी सत्य, शिव, सुन्दर और दिव्य है, वह सब दैवी सम्पदा के अन्तर्गत है। सब जो असत्य, अशिव, असुन्दर और अदिव्य है, वह सब आसुरी सम्पदा है।

तू रक्षक है शरणागत का,

कमनीय वाहकतम देवों को,

प्राप्त रहें दैवी प्रजायें।

रख रमणीय देव सवितः वसु,

चखें वे तेरी हवियों को॥

सूक्ति—उपावीरसि।
तू शरणागत का रक्षक है॥
देव त्वष्टर्वसु रम।
देव त्वष्टः ! वसु को रमणीय कर॥
हव्या ते स्वदन्ताम्।
वे तेरी हवियों को चखें॥

रेवती रमध्वं बृहस्पते धारया वसूनि।
ऋतस्य त्वा देवहविः पाशेन प्रति मुञ्चामि
धर्षा मानुषः ॥ (य० ६/८)

रेवतीः रमध्वं बृहस्पते धारय वसूनि।
ऋतस्य त्वा देव-हविः पाशेन प्रति-मुंचामि, धर्ष मानुषः ॥

पत्नी ने पूर्व मन्त्र में विनय की थी—"देव त्वष्टः! मेरे गृहकुल के निवासी तेरी दैवी सम्पदाओं का आस्वादन करें"। अपनी प्रियतमा की इस विनय से प्रभावित होकर पति भावातिरेक से अतिरेकित होकर अनायास कह उठता है—(रेवतीः रमध्वं) रेवतियो! रमण करो।

वैदिक वाङ्मय में रेवती शब्द का प्रयोग ज्योति, नक्षत्र विशेष तथा ऐश्वर्यशालिनी के अर्थ में हुआ है। यहां इस शब्द का प्रयोग उसी अर्थ में हुआ है, जिस अर्थ में, पूर्व मन्त्र में, हव्या शब्द का प्रयोग हुआ है। रेवती वे दैवी सम्पदायें हैं, जो सर्वातिशय ऐश्वर्यशालिनी हैं, जो सर्वातिशय ज्योतिर्मयी हैं, जो भाग्योदय करने कराने वाली हैं।

पति ने दैवी सम्पदाओं का भावनामय सम्बोधन किया, "दैवी सम्पदाओ! तुम मेरे गृहकुल में रमण करो"।

पत्नी बोल उठी, (बृहस्पते वसूनि धारय) बृहस्पते! वसुओं को धारण कर, वसुओं का सम्पादन कर, वसुओं की प्राप्ति कराता रह।

जैसाकि पूर्व मन्त्र में कहा गया है, वसु नाम धन का है। अनन्तानि वै वसूनि। जो कुछ भी सुनिवास और सुनिर्वहन में साधनरूप है, वह सब वसु है। आवास, अन्न, धन, ऐश्वर्य, धर्म, सदाचार, आस्तिक्य, पशु, भूमि, सत्य, संयम इत्यादि अनेक वसु हैं।

बृहस्पति का अर्थ है बृहत् पति, महान् पति, महा पति, पति महान्।

दैवी सम्पदायें वसुदायिनी हैं। जहां दैवी सम्पदायें होंगी, वहां वसुओं का निश्चय ही निवास होगा। वसुओं के अभाव में दैवी सम्पदायें ठहर नहीं पाती हैं। इसी लिये ज्यों ही पति ने दैवी सम्पदाओं को सम्बोधन किया, त्यों ही पत्नी ने पति को सम्बोधन किया, "बृहस्पते! दैवी सम्पदाओं के आगमन तथा स्थायित्व के लिये वसुओं का सम्पादन करता रह"।

रेवतीः और वसूनि का युग्म सदा साथ साथ रहता है। वे एक दूसरे से पृथक् कभी नहीं रहते।

पत्नी फिर बोली, (देव-हविः) देव-हवि मैं (त्वा) तुझे (ऋतस्य पाशेन) ऋत की पाश से (प्रति-मुंचामि) प्रति-मुक्त करती हूं, खुला करती हूं।

ऋत का प्रयोग यहां सही [Right] या सत्य के अर्थ में नहीं हुआ है, प्राकृत [स्वाभाविक] काम-संस्कार के लिये हुआ है। काम अनृत नहीं है, ऋत है, एक वास्तविकता है। नर हो या नारी, उसकी उत्पत्ति काम से हुई है। अत एव प्रत्येक नर नारी में काम संस्कार-रूप से अन्तर्निहित है। कौन है, जो काम की पाश से बंधा नहीं है। अथर्व १९. ५२. २ में काम को विभु कहा है।

काम रमा है एक एक जन में,
काम बसा है बस्ती वन में,
काम रमा है एक एक कण में,
काम बसा है तन में मन में ॥

जहां यह ऋत [Right, सही, ठीक] है, कि काम विभु है, वहां यह भी ऋत है कि काम

पर विजय पाकर काम की पाश से मुक्त हुए बिना न दैवी सम्पदाओं की सम्पादना हो सकती है, न सुपावन वसुओं की निष्पादना सम्भव है। सब ऋतों का एक ऋत यह है कि जितनी भी योनियां हैं, केवल मानव ही है, जो आत्मसाधना द्वारा काम पर विजय पाकर काम की पाश से मुक्त होने और रहने की क्षमता रखता है।

सब विकारों में काम-विकार जहां सर्वाधिक प्रबल है, वहां सर्वाधिक विनाशकारी भी है। काम आदि-विकार है। काम-विकार से ही अन्य सब विकार उत्पन्न हुए हैं। काम-विकार से मुक्त होने पर मनुष्य अन्य सब विकारों से अनायास ही मुक्त होकर सर्वथा निर्विकार होजाता है।

ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ तथा संन्यासाश्रम में काम सर्वथा वर्जित है, किन्तु गृहस्थाश्रम में काम विहित है। इसीलिये यहां गृहकुल के प्रसंग में काम की पाश से मुक्त होने की प्रेरणा है, काम के नितान्त त्याग की नहीं। गृहस्थ में अति-काम वर्जित है, मित-काम विहित है। जिस प्रकार विधिवत् विष का सेवन अमृतोपम सिद्ध होता है, उसी प्रकार विधिविहित सेवित मित-काम सुसंस्कारों से सुसंस्कृत सन्तान प्राप्त कराता है।

प्रत्येक पति स्वभाव से अति-कामी होता है, काम की पाश से आबद्ध होता है। यह धारणा नितान्त निराधार है कि नारी नर की अपेक्षा अधिक कामी होती है। वास्तविकता यह है कि नारी में नर की अपेक्षा बहुत कम कामुकता होती है। वह कामुक नर ही है, जो नारी को अतिकामुक बना देता है। हां, यह सही है कि एक बार अति-कामुक होजाने पर नारी काम की धधकती हुई भट्टी बन जाती है। यदि पति पत्नी के शील पर प्रहार और उसके संयम पर आक्रमण न करे, तो पत्नी सहजतया ही मित-कामी बनी रहती है। इसी भाव का व्यक्तीकरण करने के लिये पत्नी ने अपने आपको देव-हवि कहा है। देव-हवि का अर्थ है दिव्य हवि, जिसके द्वारा देव-यजन अथवा दिव्य-याग किया जाता है।

"गृहकुल-पते ! मैं इस गृहकुल की देव-हवि हूं, वह दिव्य हवि, वह दिव्य सम्पदा, जिसके द्वारा इस गृहकुलरूपी दिव्य यज्ञ का दिव्य यजन होगा। मैं तुझे काम की पाश से मुक्त करती हूं"।

सौभाग्यशालिनी हैं वे पुत्रियां, सौभाग्यशाली हैं वे पुत्र, जिनके माता पिता काम की पाश से मुक्त हैं। काम की पाश से बद्ध दम्पती सर्वविकारों से विकृत, लम्पट और निर्लज्ज होजाते हैं और परिणामतः उनकी सन्तान भी वैसी ही होजाती है। धन्य है वह पत्नी, जो इस रहस्य को समझती है और अपने पति को काम की पाश से मुक्त रखकर अपने गृहकुल के वातावरण को विशुद्ध तथा सुसंस्कृत बनाये रहती है। ऐसे निर्विकार और संशुद्ध वातावरण में ही मही महिलाओं का तथा महा पुरुषों का संसृजन होता है।

एक आदर्श भार्या जब जब अपने पति को कामासक्त और असंयत पाती है, तब तब वह उससे मर्म-स्पर्शी शब्दों में कहती है—(मानुषः) मानुष तू (धर्ष) प्रसहन कर।

मानुष का अर्थ है मननशील। मननशील प्राणी होने से ही वह मनुष्य या मानुष कहलाता है।

धृष प्रसहने। धृष धातु का अर्थ है सहन करना, अच्छी प्रकार सहना, सम्यक् शमन करना।

काम का दमन नहीं, शमन किया जाता है। दमन से काम का वेग प्रबल से प्रबलतर होता चला जाता है। वह शमन है, जिससे काम पर विजय प्राप्त की जाती है। दमन अमननशीलता का द्योतक है। शमन मननशीलता का द्योतक है। प्रत्यक्षतः काम और मनन का परस्पर गहन सम्बन्ध है। विकृत मनन [चिन्तन] से काम का उत्तेजन होता है। निर्विकार मनन से काम का शमन होता है।

"मानुषः धर्षं–तू मानुष है, शमन कर"–कितनी सुन्दर प्रेरणा की है यहां सुभार्या ने अपने प्राणप्रिय भर्ता को।

रेवतियो ! तुम रमण करो,
वसुओं को धार, बृहस्पते।
देव-हवि में ऋत की पाश से,
तुझे मुक्त करती हूं,
मानुष तू प्रसहन सदा कर ॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। अग्नीषोमाभ्यां जुष्टं नि युनज्मि। अद्भ्यस्त्वौषधीभ्योऽनु त्वा माता मन्यतामनु पितानु भ्राता सगर्भ्योऽनु सखा सयूथ्यः। अग्नीषोमाभ्यां त्वा जुष्टं प्रोक्षामि ॥ (य० ६/९)

देवस्य त्वा सवितुः प्र-सवे अश्विनोः बाहुभ्यां पूष्णः हस्ताभ्याम्। अग्नीषोमाभ्यां जुष्टं नि-युनज्मि। अत्भ्यः त्वा ओषधीभ्यः अनु त्वा माता मन्यतां अनु पिता अनु भ्राता स-गर्भ्यः अनु सखा स-यूथ्यः। अग्नीषोमाभ्यां त्वा जुष्टं प्र-उक्षामि ॥

पत्नी अपने पति के प्रति कहे चली जारही है—
१) पते ! मैं (त्वा) तुझको, (त्वा जुष्टं) तुझ जुष्ट को, (देवस्य सवितुः) दिव्य स्रष्टा परमात्मा के (प्र-सवे) समुत्पन्न संसार में (अश्विनोः बाहुभ्यां) दो अश्वियों के दो बाहुओं से, (पूष्णः हस्ताभ्यां) पूषा के दो हाथों से, तथा (अग्नीषोमाभ्यां) अग्नि और सोम से (अत्भ्यः ओषधीभ्यः) जलों और ओषधियों के लिये (नि-युनज्मि) बांधती हूं।

जुषी प्रीतिसेवनयोः। जुष धातु का अर्थ है प्रीति और सेवन। जुष्ट का अर्थ है प्रीतिपूर्वक सेवित। अपने पति को जुष्ट कहकर पत्नी ने पति की एक योग्यता का संकेत किया है। पति अपनी पत्नी, सन्तान तथा परिवार के लिये प्रीतिपूर्वक सेवनीय होना चाहिये। उसका शील और स्वभाव ऐसा मृदु और आकर्षक हो कि गृहकुल उससे सस्नेह संगत हुआ करे। उसका शील और स्वभाव अप्रिय और कटु न हो।

जैसा कि य० १/१० की व्याख्या में स्पष्ट किया गया है, अश्वियों का प्रयोग हुआ है दो नासिका-छिद्रों के लिये, जिनके दो बाहु [पुरुषार्थ-साधन] हैं प्राण और अपान; पूषा शब्द का प्रयोग हुआ है शरीर के पोषक आत्मा के लिये, जिसके दो हस्त [हनन-गमन-साधन] हैं मन और बुद्धि।

प्रत्यक्षतः अग्नीषोमाभ्यां से तात्पर्य सूर्य और चन्द्रमा से है। अग्निपुञ्ज होने से सूर्य अग्नि-संज्ञक है। सोम नाम चन्द्रमा का है ही। अग्नि [सूर्य] उग्र, पावक, प्रकाशक, आकर्षक और सर्वैश्वर्य-निष्पादक है। सोम [चन्द्रमा] सोम्य, कलान्वित, शीतल, शान्त, आह्लादक और तरंगोत्पादक है।

जलों से सिंचन होता है। ओषधियों से दोषों [रोगों] का निवारण होता है। जल सिंचनों के प्रतीक हैं। ओषधियां दोषों को धोने की प्रतीक हैं।

"मैं तुझे, प्रीतिपूर्वक सेवनीय तुझे, देव सविता के इस समुत्पन्न संसार में अश्वियों के प्राणापान-रूपी बाहुओं से, पूषा के मनबुद्धिरूपी हस्तों से तथा सूर्य और चन्द्र से, जलों और ओषधियों के लिये, बांधती हूं", पति से कहे गये पत्नी के इन शब्दों में एक गूढ़ रहस्य निहित है।

प्राण का कार्य है जीवन-संचार, तो अपान का कार्य है मलनिवारण अथवा शोधन। मन का कार्य

है संकल्प, तो बुद्धि का कार्य है बोध। सूर्य का कार्य है वाष्प बनाकर जलों का बरसाना, तो चन्द्रमा का कार्य है ओषधियों में जलों का संचार।

पत्नी पति को बांधती है। किससे? गृहकुल से और गृहकुल के सदस्यों से। किन करणों से? संचार और शोधन, संकल्प और बुद्धि तथा सूर्य और चन्द्र-इन छः करणों द्वारा। किस लिये? जलों और ओषधियों के लिये, सर्वसिंचनों और सर्वदोष-निवारणों के लिये।

पत्नी वह सुन्दर सुकोमल किन्तु सुदृढ़ रस्सी है, जो पति को धर्मणा गृहकुल से बांधती है। धर्मणा गृहकुल से बंधकर पति का पुनीत कर्तव्य है कि वह गृहकुल के सदस्यों में प्राणवत् उत्तम गुण कर्म स्वभाव का संचार करे, अपानवत् उनके दुर्गुणों का निवारण करे, उनमें संकल्प-शक्ति और सुबोध की प्रस्थापना करे। संकल्प और सुबोध ही दो साधन हैं, जिनसे उत्तम गुणों का धारण और दुर्गुणों का निवारण होता है। और, जैसाकि ऊपर कहा गया है, सर्वगुणसिंचनों तथा सर्वदोष-निवारणों के लिये ही तो पत्नी पति को गृहकुल से बांधती है।

२) पते! (त्वा) तुझे (माता अनु-मन्यतां) माता अनुमाने-पहचाने। माता तुझपर अभिमान करे, माता तुझपर गर्व अनुभव करे।

पत्नी कामना कररही है और पति को आत्मप्रेरणा कररही है कि उसके पति का जीवन वह प्रेरणाप्रद जीवन हो कि उसकी माता अपने पुत्र की महानता को पहचाने और उसपर गौरव अनुभव करे। वह अपनी माता का मान हो, अभिमान हो।

३) पते! तुझे (पिता अनु) पिता अनु-मन्यताम्, पिता अनुमाने-पहचाने। पिता तुझपर अभिमान करे, पिता का तू गौरव सिद्ध हो।

पत्नी की अभिलाषा हो कि उसका पति अपने पिता को गौरवान्वित करे और उसका पिता अपने पुत्र की गरिमा को पहचाने।

४) पते! तुझे (सगर्भ्यः भ्राता अनु) सगर्भ्यः भ्राता अनु-मन्यताम्, सहोदर भाई अनुमाने-पहचाने। सहोदर भाई तेरा मान और तुझपर गर्व करे।

पत्नी की आस्था हो कि उसका पति अपने सहोदर भाई बहन का अर्मान और अभिमान बने।

५) पते! तुझे (सयूथ्यः सखा अनु) सयूथ्यः सखा अनु-मन्यताम्, सयूथ्य सखा अनुमाने-पहचाने। तेरे सखा-समूह के प्रत्येक सखा के हृदय में तेरे लिये अनुमान्यता हो।

एक सच्ची आदर्श पत्नी कभी यह न चाहेगी कि उसका पति अपने माता, पिता, भ्राता, भगिनी, सखा, आदि से पृथक् होजाये अथवा उनके द्वारा अमान्य अवमान्य हो। वह अपने पति को सदा ऐसी प्रेरणा करेगी कि वह [पति] अपने माता, पिता, भ्राता, सखा—सबसे सदा सुयुक्त और प्रीतिमान रहे। वह ऐसा प्रयत्न करेगी कि उसका पति अपने सम्बन्धियों तथा मित्रों की दृष्टि में श्रेष्ठता तथा उच्चता के साथ अनुमाना जाये।

प्रत्येक पति के लिये यहां यह उदात्त प्रचेतना है कि बात तो तब है कि वह अपने माता, पिता, भ्राता, सखा, आदि निकटवर्ती व्यक्तियों के मान का भाजन बने। सर्वप्रिय बनना सरल है। सगे—सम्बन्धियों का प्रिय बनना कठिन है। साधारण जनता में मानास्पद बनना कोई बड़ी बात नहीं। पर सदा संग साथ रहनेवालों का हार्दिक मान प्राप्त किये रहना टेढ़ी खीर है। दूरस्थों की दृष्टि में सुहावना लगना सामान्य बात है। कमाल तो तब है कि निकटस्थों की दृष्टि में कोई सुहावना बना रहे।

जिनके व्यक्तिगत जीवन ओच्छे [क्षुद्र] होते हैं, वे बनावट और दिखावट से सार्वजनिक जीवन में क्षणिक नाम और मान पा लेते हैं, परन्तु निकटस्थों की दृष्टि में वे गिरे रहते हैं। जिनके व्यक्तिगत

जीवन वास्तव में उत्कृष्ट होते हैं, वे निकटस्थों अपि च दूरस्थों के हृदयों में स्थिर और स्थायी स्थान पाते हैं।

६) पते! मैं (त्वा जुष्टं अग्नीषोमाभ्यां प्र-उक्षामि) तुझ सप्रेमसेवनीय को सूर्य और चन्द्रमा से प्रकृष्टतया सींचती हूं, तुझे सौर और चान्द्र गुणों से सुयुक्त करती हूं।

पत्नी का धर्म है कि वह गृहकुल के वातावरण को ऐसा प्रेरणाप्रद, मनोरम और सुष्ठु रखे कि उसका पति सतत सन्तत सूर्य समान प्रकाशक पावक आकर्षक और चन्द्रमा के समान सोम्य तथा कलान्वित रहे।

देव सविता के प्रसव में,
अश्वियों के बाहुओं से,
और पूषा के हस्तों से,
सूर्य से और चन्द्रमा से,
जलों ओषधियों के लिये,
बांधती हूं तुझको,
मैं तुझ जुष्ट को।
माता अनुमाने तुझे,
और तुझको अनुमाने पिता,
भ्राता सहोदर तुझको अनुमाने,
सखा स-यूथ्य अनुमाने तुझे।
सींचती हूं मैं तुझे प्रकृष्टतः,
सौर-गुणों चान्द्र-गुणों से सतत॥

अपां पेरुरस्यापो देवीः स्वदन्तु स्वात्तं चित्सद्देवहविः।
सं ते प्राणो वातेन गच्छतां समङ्गानि यजत्रैः सं यज्ञपतिराशिषा॥

(य० ६/१०)

अपां पेरुः असि आपः देवीः स्वदन्तु सु-आत्तं चित् सत् देव-हविः।
सं ते प्राणः वातेन गच्छतां सं अङ्गानि यजत्रैः सं यज्ञ-पतिः आशिषा॥

पत्नी अपने पति को आत्मबोध कराती हुई कहे जारही है—

१) तू (अपां पेरुः असि) प्रजाओं का पेरु है।

अप् के बहुत प्रसिद्ध अर्थ हैं जल, प्रजा और कर्म। अप् का मूलार्थ है प्रवाह। प्रवाहमय होने के कारण ही जलों को अप कहते हैं। अप् नाम उन जलों का नहीं है, जो तालाब आदि में रुके रहते हैं, अपि तु उन जलों का है, जो नदियों अथवा वृष्टिस्रोतों में वह रहे होते हैं। जलों अथवा जलधाराओं के समान ही मानव-प्रजायें भी भिन्न भिन्न प्रवाहों अथवा दिशाओं में प्रवाहित रहती हैं। इसीसे अप् का प्रयोग मानव प्रजाओं के अर्थ में भी होता है। कर्म भी तो प्रवाहमय हैं। इसीसे अप् का प्रयोग कर्मों के अर्थ में भी होता है। यहां अप् का प्रयोग प्रजाओं के अर्थ में हुआ है।

पति को प्रजाओं का पेरु कहा गया है। पेरु नाम रक्षक और प्रेरक का है। पति जब गृहकुल की प्रजा का संरक्षक और सुप्रेरक वनता है, तब ही उसकी प्रजा दिव्य प्रजा बन पाती है।

"पते! तू गृहकुल की अपनी प्रजाओं का पेरु बनकर उनका सतर्कता के साथ संरक्षण और संप्रेरण कर, ताकि वे दिव्य प्रजायें बनें और बनी रहें।

२) गृहकुल की तेरी (देवीः आपः) दिव्य प्रजायें (सु-आत्तं) सु-आत्त, सु-भक्ष्य (सत्) सात्त्विक (देव-हविः) दिव्य-हवि, हविरूप दिव्य आहार (चित्) ही (स्वदन्तु) आस्वादें/चखें/सेवन करें।

यथा आहार तथा सत्त्व। यथा सत्त्व तथा गुण। यथा गुण तथा कर्म। यथा कर्म तथा जीवन। तामसिक आहार से बना सत्त्व तामसिक होता है। राजसिक आहार से बना सत्त्व राजसिक होता है। सात्त्विक

आहार से बना सत्त्व सात्त्विक होता है। सात्त्विक सत्त्व ही दिव्यताग्राही होता है। सात्त्विक सत्त्व में ही दिव्यता का संचार होता है। दिव्यता के संचार से ही गृहकुल की प्रजायें दिव्य प्रजायें बन सकेंगी, अन्यथा नहीं, कदापि नहीं।

गृहकुल की प्रजाओं को दिव्य-प्रजायें बनाये रखने के लिये यह आवश्यक है कि वे सुभक्ष्य का ही सेवन करें, कुभक्ष्य का नहीं; वे शुद्ध सात्त्विक भोजन का ही सेवन करें, मलिन का नहीं; वे हविरूप दिव्य आहार का ही आस्वादन करें, अदिव्य आहार का नहीं।

"तेरी दिव्य प्रजायें सुभक्ष्य, सात्त्विक, हविरूप दिव्य आहार का ही सेवन करें", वेदमाता ने गृहस्वामिनी के मुख से गृहस्वामी के प्रति यह कहलवा-कर आहार-सम्बन्धी एक सुन्दर विज्ञान का उद्घाटन किया है।

३) (ते प्राणः वातेन सं-गच्छतां) तेरा प्राण वात के साथ सम्यक्-गमन करे।

प्राण से ही प्राणियों का जीवन है। प्राण से ही प्राणी जीता है। प्राण जीवन का प्रतीक है। प्राण ही जीवन है। प्राण शब्द का प्रयोग यहां जीवन के अर्थ में हुआ है।

वात गतिसुखसेवनेषु। वात नाम वायु का है, उस वायु का, जो सुखपूर्वक गति करता है और जिसका सुखपूर्वक सेवन किया जाता है। प्रातःकालीन शीतल मन्द समीर का नाम वात है। आकाश में विचरते हुए या आकाश से बरसते हुए बादलों के सम्पर्क से शीतल होकर जो समीर प्रवाहित होता है, उसे वात कहते हैं। जलधर-वाहक पवन का नाम भी वात है।

"तेरा जीवन शीतल मन्द समीर के साथ प्रगमन करे", पति से कहे गये पत्नी के इस वाक्य में एक दिव्य सन्देश अन्तर्निहित है। पति का जीवन शीतल मन्द समीर के समान गृहकुल को सुख, शान्ति तथा आनन्द देनेवाला हो, दुःख, अशान्ति तथा क्लेश देनेवाला नहीं। शीतल, शान्त और आनन्दप्रद वातावरण में ही गृह-प्रजायें दिव्य प्रजायें बनती हैं। ऐसे वातावरण में ही दिव्यता का नियोजन तथा द्योतन होता है।

४) तेरे (अङ्गानि यजत्रैः सं) अङ्ग यज्ञशीलताओं के साथ संगमन करें।

यजत्र नाम है यज्ञशील का तथा यज्ञशीलता का। जो यज्ञशील होते हैं, उन्हीं में यज्ञशीलता निवास करती है। "मेरा यज्ञशील पति सदा यज्ञशीलताओं के साथ प्रगमन करे", पत्नी की इस प्रिय कामना में एक प्रशस्त साध निहित है। गृह-प्रजाओं को दिव्य प्रजायें बनाने तथा बनाये रखने के लिये यह नितान्त आवश्यक है कि गृहपति स्वयं यज्ञशील रहता हुआ यज्ञशीलताओं के साथ प्रत्येक गति और चेष्टा करे। गृहस्वामी का आचार तथा आचरण यज्ञशीलतायुक्त होगा तो गृहकुल की प्रजा उसके अनुकरण से यज्ञशील हो जायेगी। यज्ञशीलता में दिव्यता का संचार अतिशय सरल होजाता है।

५) मेरे गृहयज्ञ का (यज्ञ-पतिः आशिषा सं) यज्ञपति आशीर्वाद के साथ संगमन करे।

यज्ञशीलता तथा आशीर्वाद का परस्पर अभिन्न सम्बन्ध है। जो यज्ञशील होता है, उसका प्रत्येक व्यवहार यज्ञशीलता से युक्त होता है। अतः उसे गृह में तथा बाहर सर्वत्र आशीर्वाद प्राप्त होता है। साथ ही जो यज्ञशील होता है, वह स्वयं भी घर बाहर सर्वत्र सबको आशीर्वाद देता है।

आशीर्वाद का अर्थ है मंगल वचन। यज्ञशील पुरुष स्वयं सबके प्रति मंगल वचन बोलता है और उसके प्रति भी सब मंगल वचन बोलते हैं। मंगल वचनों से मंगल होता है और अमंगल वचनों से अमंगल। निश्चय ही मंगल वचनों से प्रजाओं का जो दिव्यीकरण होता है, वह अन्य प्रकार से सम्भव नहीं। कटु कर्कश गाली गलौंच तथा अमंगलसूचक

शाप कटाक्ष से गृहकुल का वातावरण क्षुब्ध, विषम, विषैला, अशान्त और तामसीं रहता है। स्नेहस्निग्ध आशीर्वादों तथा मंगलवचनों से गृहकुल का वातावरण अतिशय सुखद, शान्त, उत्साहवर्धक तथा प्रेरणाप्रद रहता है और ऐसे वातावरण में ही देवियों तथा देवों का संसृजन होता है।

जहां आशीर्वादों से गृह प्रफुल्ल रहता है।
वही घर देवताओं का सदन प्रफुल्ल रहता है॥

तू पेरु है प्रजाओं का,
सेवन करें दिव्य-प्रजायें,
स्वात्त सात्त्विक देवहवि ही।
तेरा जीवन करे संगमन,
शीतल मन्द समीर वात से,
तेरे अङ्ग प्रगमनं करें,
यज्ञशीलताओं के साथ।
करे संगमन सदा यज्ञपति,
आशिष मंगलवचनों के सह॥

सूक्ति—आपो देवी स्वदन्तु स्वात्तं चित्सद्देवहविः।
सेवन करें दिव्य-प्रजायें,
स्वात्त सात्त्विक देवहवि ही॥

घृतेनाक्तौ पशूँस्त्रायेथां रेवति यजमाने प्रियं धा आ विश।
उरोरन्तरिक्षात्सजूर्देवेन वातेनास्य हविषस्त्मना यज
समस्य तन्वा भव। वर्षो वर्षीयसि यज्ञे यज्ञपतिं धाः
स्वाहा देवेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा॥ (य० ६/११)

घृतेन अक्तौ पशून् त्रायेथां रेवति यजमाने प्रियं धाः आ-विश।
उरोः अन्तरिक्षात् सजूः देवेन वातेन अस्य हविषः त्मना यज
सं अस्य तन्वा भव। वर्षो वर्षीयसि यज्ञे यज्ञ-पतिं धाः
स्वाहा देवेभ्यः देवेभ्यः स्वाहा॥

अब पति पत्नी दोनों मिलकर अपने आपको आत्मसम्बोधन करते हैं—(घृतेन अक्तौ) घृत से अक्त, स्नेह से सिक्त [तुम दोनों] (पशून् त्रायेथां) पशुओं को लांघो/तरो।

घृत प्रतीक है स्निग्धता का, स्नेह का। कामुकता, क्रोध, विषयलम्पटता, कुशीलता, निर्लज्जता, असंयम, मदान्धता, आदि, वे भयंकर पशु हैं, जो सुरम्य गृहवाटिका को भयानक जंगल में परिणत कर देते हैं।

तॄ प्लवनसंतरणयोः। तॄ धातु का अर्थ है कूदना और तरना, लांघकर पार उतरना।

पति पत्नी के इस आत्मसम्बोधन के मिष से वेदमाता ने एक प्रचेतनामय चेतावनी दी है। जहां यह सर्वथा वाञ्छनीय है कि पति पत्नी परस्पर स्नेह-स्निग्ध रहें, वहां यह भी नितान्त वाञ्छनीय है कि वे विकारजन्य विकृतियों से अपने आपको सावधानी के साथ बचाये रहें।

और पत्नी के प्रति पति द्वारा की गयी विहित स्नेहात्मक निम्न विनयों में वेदमाता आदर्श पत्नी-धर्म का निर्देश कर रही है—

१) (रेवति)! (प्रियं धाः) प्रिय धारण कर, मुझ (यजमाने) यजमान में (आ-विश) प्रवेश कर।

रेवति शब्द ज्योतिपरक तथा ऐश्वर्य-परक है। ज्योति में सकल ऐश्वर्य निवास करते हैं। जहां ज्योति है, वहां किसी भी ऐश्वर्य की क्या कमी रह सकती है। रेवति—यह बड़ा सुन्दर और उद्बोधक सम्बोधन है। सम्बोधन कहते ही उसे हैं, जिससे सम्बोधित को सम्बोध [सं+बोध] हो। इस सम्बोधन से सम्बोधित

होकर पत्नी को सम्बोध होरहा है कि गृहकुल की पत्नी को ज्योतिष्मती और ऐश्वर्यशालिनी होना चाहिये।

प्रिय शब्द का प्रयोग यहां प्रियता के लिये हुआ है। सब कुछ जो प्रियता से युक्त है, वह सब प्रिय है। रेवती की प्रत्येक बात प्रिय हो। उसकी हर बात में प्रियता हो। वह हर बात में प्यारी लगे। उसके विचार प्रिय हों। उसकी दृष्टि में प्यार हो। उसकी श्रुति में प्रियता हो। उसकी वाणी में प्यार हो। उसकी भावनाओं में प्यार हो। उसकी प्रत्येक चेष्टा और गति में, उसकी प्रत्येक क्रिया और कृति में, प्रियता आपूर हो।

पत्नी की वह सर्वतोधार प्रियता ही है, जिसके द्वारा वह अपने पति में प्रवेश करती है। पत्नी का वह सुपावन और विमोहक प्रिय आह्वरण ही है, जिसके द्वारा वह अपने पति के हृदय में प्रवेश करके उसके अन्तरतम में समा जाती है। "ज्योष्मते! ऐश्वर्यशालिनि! प्रियता से युक्त रहती हुई तू मुझ यजमान में प्रवेश कर और प्रविष्ट रह," कितना सुन्दर सम्बोधन है यह पति की ओर से अपनी सहगामिनी के प्रति।

२) रेवति! अपने (उरोः अन्तरिक्षात्) विशाल अन्तरिक्ष से [आनेवाले] (देवेन वातेन) दिव्य वात से (सजूः) जुष्ट, सुयुक्त, रहकर, तू (अस्य) इस [मुझ यजमान] की (हविषः) हवि से, धनैश्वर्य से (यज) यज्ञ कर, शुभ कर्म कर, (अस्य) इस [मुझ यजमान] के (तन्वा) तनू से (त्मना सं-भव) आत्मना संगत हो।

समष्टि में उरु अन्तरिक्ष है यह विशाल आकाश। व्यष्टि में विशाल अन्तरिक्ष है यह विशालाशय अन्तःकरण। रेवती पत्नी का अन्तःकरण विशालाशय होना चाहिये, क्षुद्राशय नहीं।

वात नाम प्रातःकालीन शीतल मन्द समीर का है। वात नाम मेघ से अथवा मेघवृष्टि से शीतल हुए समीर का भी है। वात का गुण है स्पर्श। अतः वैदिक वाङ्मय में वात नाम शीतल मन्द समीर का भी है और शीतल प्रिय स्पर्श का भी है। वात के स्पर्श में कैसी दिव्यता होती है, कितनी प्रचेतना होती है।

षञ्ज सङ्गे धातु से सजूः शब्द बना है। जिस प्रकार विशाल आकाश से प्रवाहित वात के स्पर्श से युक्त होने पर बड़ा आराम मिलता है, उसी प्रकार पत्नी के विशालाशय अन्तःकरण से प्रस्फुरित होनेवाले शीतल स्नेह-वात के स्पर्श से युक्त रहकर पति का जीवन-सर्वस्व पुल्कित और आनन्दित रहता है।

हविस् [हविः] नाम शुद्ध, पवित्र, यज्ञीय हवन-सामग्री का है। धर्म से कमाये पवित्र धनैश्वर्य का नाम भी हवि है। हवि शब्द का प्रयोग यहां धर्मपूर्वक सम्पादित शुद्ध ऐश्वर्य के अर्थ में हुआ है। पति हविरूप शुद्ध ऐश्वर्य का सम्पादन करे और पत्नी उसका यज्ञीय शुभ कार्यों में सद्व्यय करे, यह कितनी सुन्दर वैदिक व्यवस्था है।

तान अथवा विस्तार का साधन होने से मानव-जीवन को तनू कहते हैं। तनू शब्द का प्रयोग केवल मानव-देह अथवा मानव-जीवन के लिये होता है, पशुओं के शरीर के लिये नहीं।

पत्नी के प्रति अपने सम्पूर्ण स्नेह और सम्मान के साथ पति ने कितना प्यार-भरा सार्थक सम्बोधन किया है—"ज्योतिष्मते! सुभगे! अपने विशालाशय हृदय के दिव्य स्पर्श से सुयुक्त रहकर तू मेरे शुद्ध ऐश्वर्य से शुभ कर्म कर और मेरे जीवन से आत्मना संगत रह"। कितने हैं, जो अनुभव कर सकेंगे इस मर्मस्पर्शी सम्बोधन की मर्म-गहनता को।

३) (वर्षो) वर्षयिणि! वृष्टि करनेवाली। इस गृहकुलरूपी (वर्षीयसि यज्ञे) वृष्टिकारक यज्ञ में, मुझ (यज्ञ-पतिं) यज्ञपति को (धाः) धार, सहार।

गृहकुल का सुष्ठु संचालन वह वृष्टिकारक यज्ञ है, जिससे उभय लोकों के ऐश्वर्यों की सुवृष्टि होती

है, जिसमें शरीर-सुखों और आत्मानन्दों की वर्षा होती है। किन्तु यह वृष्टियाग कृतकार्य तब ही होता है, जब इस याग के सुनिर्वहन में ज्योतिष्मती पत्नी अपने पति को, धारती, सहारती और सहारा देती है। पत्नी का सहारा पाकर पति सबल होजाता है। पत्नी के सहारे से वंचित होकर पति का यज्ञ निष्फल होजाता है।

"वर्षयिणि! इस सुवृष्टि-याग में मुझ यज्ञपति को सहारती रहना, सतत सन्तत निरन्तर अन्त तक मुझे अपना सहारा देती रहना", कितने गहन सहयोग, सहकार और एकाकार की भावना निहित है इस आत्मीयतापूर्ण सम्बोधन में।

इस हृदयस्पर्शी सम्बोधन से सम्बुद्ध होकर पत्नी के मुख से सहसा निकल पड़ता है, "प्रियतम! मैं तुझ पर (स्वाहा) बलि जाऊं, तेरी (देवेभ्यः) दिव्यताओं के लिये, तेरे दिव्य गुणों के प्रति। मेरे गुणवन्त पते! मैं तेरे दिव्य गुणों पर बलिहारी जाती हूं"।

और पति बोल पड़ता है, "प्रियतमे! मैं तेरी (देवेभ्यः) दिव्यताओं के लिये, तेरे दिव्य गुणों के प्रति (स्वाहा) बलि जाऊं। गुणशीले! मैं तेरे दिव्य गुणों पर वलिहारी जाता हूं"।

दोनों घृत से अक्त,
तरो लांघो पशुओं को।
रेवति! प्रिय धारण कर,
कर प्रवेश प्रेम से,
अपने मुझ यजमान पति में।
उरु हृदय से आनेवाले,
दिव्य वात से संगत रहकर,
इस अपने यजमान पति की,
शुद्ध हवि से शुद्ध यजन कर।
इस अपने यजमान पति के,
प्रिय तनू से,
सतत आत्मना,
संगत रहना।
वर्षयिणि! सहारती रहना,
वृष्टिकारक गृहयजन में,
अपने इस प्रिय यज्ञपति को।
जाती हूं तुझपर बलिहारी,
तेरी दिव्यताओं के लिये।
तेरी दिव्यताओं के लिये,
जाता हूं तुझपर बलिहारी॥

माहिर्भूर्मा पृदाकुर्नमस्त आतानानर्वा प्रेहि।
घृतस्य कुल्या उप ऋतस्य पथ्या अनु॥
(य० ६/१२)

मा अहिः भूः मा पृदाकुः नमः ते आतान अनर्वा प्र इहि।
घृतस्य कुल्याः उप ऋतस्य पथ्याः अनु॥

उपर्युक्त सम्बोधन से सम्बुद्ध और प्रभावित होकर पत्नी अपने पति के प्रति निवेदन करती है—
१) (आ-तान) विस्तार करनेवाले! (मा अहिः भूः मा पृदाकुः) न अहि हो न पृदाकु।

पति को यहां आतान सम्बोधन से सम्बोधित किया गया है। सन्तानरूपी तन्तु का विस्तार करनेवाला होने से पति आतान है। पत्नी भूमिरूपा है। पति बीजरूप है। पत्नीरूपी भूमि में पति वीर्यरूपी बीज बोता है। वीर्य-बीज से सन्तति का विस्तार होता है। इस प्रकार पति आतान है।

अहि नाम है सर्प का और पृदाकु कहते हैं व्याघ्र को। सर्प और व्याघ्र दोनों ही हिंसक प्राणी हैं,

किन्तु सर्प प्रतीक है विष का तो व्याघ्र प्रतीक है क्रूरता का। पति को न तो विषयविष से विषैला होना चाहिये, न क्रूरता से क्रूर होना चाहिये। बीज के गुण फल में निहित होते हैं। पिता के शील और स्वभाव का प्रभाव सन्तान में संस्काररूप से जाता है। पिता की प्रकृति में न सर्पता होनी चाहिये, न व्याघ्रता। अन्यथा उसकी सन्तान देवस्वरूप न होकर सर्परूप तथा व्याघ्ररूप होगी।

यह मान्यता नितान्त निराधार है कि स्त्री पुरुष की अपेक्षा अधिक कामुक अथवा क्रूर होती है। स्त्री में पुरुष की अपेक्षा स्नेह अधिक होता है, पर काम की मात्रा उसमें बहुत कम होती है। नारी प्रकृति से सुस्नेहा तथा सुसंयत होती है। वह पुरुष ही है जो अपने असंयत आचार से नारी को कामुक तथा क्रूर बना देता है।

कामात् जायते क्रोधः। काम से क्रोध की उत्पत्ति होती है। कामुकता से क्रूरता उत्पन्न होती है। सर्पता से व्याघ्रता का जन्म होता है। जब जब पति की प्रकृति में सर्पता और व्याघ्रता की झलक दिखाई पड़े, तब तब पत्नी उसे सावधान करे, "सन्तति-तन्तु का विस्तार करनेवाले! तू मत सर्पता के वशीभूत हो, मत व्याघ्रता के"।

२) (नमः ते) नमस्कार तेरे लिये! मैं तुझे नमस्कार करती हूं।

पत्नी जब जब अपने पति को सर्पता तथा व्याघ्रता से वर्जे, तब तब नमस्कार के साथ विनय करे, तिरस्कार के साथ नहीं। सचमुच वह नमस्कर-णीय है, जो सर्पता तथा व्याघ्रता से बचे रहने की क्षमता रखता है।

"मैं तुझे नमस्कार करती हूं और निवेदन करती हूं कि तू सर्पता और व्याघ्रता से मुक्त रह"।

३) (अन्-अर्वा प्र-इहि) अन्-अर्वता के साथ प्र-गमन कर। व्यवहार कर।

अर्व का अर्थ है हिंसा। अनर्व का अर्थ है अहिंसा। अनर्वा का अर्थ है अहिंसा के साथ, अहिंसा-वृत्ति के साथ, सुशीलता और शालीनता के साथ, स्नेह और सोम्यता के साथ। गृहपति को चाहिये कि वह अपने गृहकुल की प्रजा के प्रति स्नेह और सुशीलता के साथ व्यवहार करे, निर्दयता तथा कुशीलता के साथ नहीं। सन्तति के जीवन का सुनिर्माण तथा परिवार का हितसाधन स्नेहपूर्वक समझाने और सिखाने से होता है, मार-पीट तथा फटकार से नहीं। हर समय झिल्लाने, चिल्लाने और मारने पीटने से परिवार के व्यक्तियों का स्वभाव सुधरने के बजाय बिगड़ता है।

जब जब पति किसी के प्रति अर्वता, निर्दयता और कुशीलता के साथ बर्ताव करे, तब तब पत्नी उससे निवेदन करे, "देव! नमः ते, अनर्वा प्र-इहि—देव! नमस्कार तेरे लिये, अनर्वता के साथ व्यवहार कर। मैं सनमस्कार निवेदन करती हूं कि तू धैर्य और शान्ति से काम ले"।

४) (घृतस्य कुल्याः उप-इहि) घृत की कुल्याओं को उपगमन कर।

जैसाकि पूर्व मन्त्र की व्याख्या में लिखा जा चुका है, घृत प्रतीक है स्नेह का।

कुल्या कहते हैं उस सुप्रवाहित सुनिर्मित नदी को, जिसकी जलधारा दोनों ओर उठे हुए किनारों के मध्य में समगति से बहती है और जिससे खेतों की सिंचाई होती है। आजकल की बोली में उसे नहर, उपनहर और बम्बा कहते हैं। नहर कभी उफनती नहीं है, क्योंकि वह नियत तथा मित गति से बहती है। खेती के लिये उपयोगी होने से वह जनकल्याण करनेवाली होती है।

पत्नी अपने पति से कहरही है, "ते नमः, घृतस्य कुल्याः उप-इहि—मैं तुझसे सनमस्कार विनय करती हूं कि तू नहरों [के शील] को प्राप्त रह। तू न कभी

बबल, न उफन, न कभी मर्यादा तथा कर्तव्य की उभय सीमाओं का उल्लंघन कर। अपने जीवन-प्रवाह को संयत तथा मित रखता हुआ अपने इस गृहकुल को स्नेहवारि से सींच और इसे सर्वतः सम्पन्न रख।

५) (ऋतस्य पथ्याः अनु-इहि) ऋत की बटियाओं को अनुगमन कर।

ऋत का अर्थ है ठीक [Right], सही। जो कुछ धर्मानुकूल, नियमानुकूल, तथा सदाचारयुक्त है, वह सब ऋत है। पत्नी के इस सम्बोधन में एक मनोहारिणी प्रेरणा निहित है। आचार की भाषा मौखिक प्रचार की भाषा से कहीं अधिक तीव्र तथा प्रभावशाली होती है। पत्नी यही रहस्य खोल रही है, "पते ! इस गृहकुल के आदर्शों की रक्षा तथा गृहकुलवासियों में उन आदर्शों की प्रस्थापना के लिये तू सदा ऋत की बटियाओं पर चल। तेरा चिन्तन ऋत [ठीक, सही, Right] हो। तेरी दृष्टि ऋत हो। तेरी श्रुति ऋत हो। तेरी वाणी ऋत हो। तेरी कृति ऋत हो। तेरी प्रत्येक गति और चेष्टा ऋत हो। तेरा जीवन ऋत पर आश्रित हो। तेरा जीवन-रथ ऋत की बटियाओं पर अनुगमन करनेवाला हो। तू अपने जीवन से ऋत की वे अमिट रेखायें खींच, जिनपर चलकर तेरी प्रजा [सन्तान] ऋतगामी बने।

मत हो सर्प न हो पृदाकु,
नमस्कार तेरे लिये विस्तार के करनेवाले,
कर प्रगमन अनर्वा।
कर उपगमन स्नेह की धाराओं पर,
कर अनुगमन तू ऋत की बटियाओं पर ॥

सूक्ति—माहिर्भूर्मा पृदाकुः।
न सर्प हो, न व्याघ्र ॥

देवीरापः शुद्धा वोढ्वं सुपरिविष्टा देवेषु सुपरिविष्टा।
वयं परिवेष्टारो भूयास्म ॥　　　　(य० ६/१३)

देवीः आपः शुद्धाः वोढ्वं सु-परि-विष्टाः देवेषु सु-परि-विष्टाः
वयं परि-वेष्टारः भूयास्म ॥

जिसमें प्रवेश किया जाता है, उसे विष्ट कहते हैं। जो प्रवेश करता है, उसे वेष्ट कहते हैं। विष्ट का स्त्रीलिंग है विष्टा। विष्टा का बहुवचन है विष्टाः। वेष्ट का बहुवचन है वेष्टारः। पत्नियां विष्टाः हैं। पति वेष्टारः हैं। पति अपने वीर्यरूपी बीज के द्वारा अपनी पत्नियों के गर्भ में प्रवेश करते हैं, जिससे सन्तानरूपी सुफल की प्राप्ति होती है।

पति कहते हैं—

१) (आपः शुद्धाः देवीः) जलशीला शुद्ध देवियो !

२) तुम (देवेषु) [हम] देवों में (सु-परि-विष्टाः) सु-परि-प्रविष्टा होकर, (सु-परि-विष्टाः) सु-परि-प्रवेष्टा होकर (वोढ्वं) वहन करो। क्या? सुसन्तान।

३) (वयं) हम (परि-वेष्टारः भूयास्म) परि-वेष्टा हों। किस प्रकार? वीर्यरूप से, बीजरूप से।

सुपरिविष्टाः शब्द का दो बार प्रयोग सुष्ठुता की अतिशयता के लिये हुआ है।

देवीः शब्द का प्रयोग हुआ है यहां दिव्य गुणों से युक्त पत्नियों के लिये और देवेषु शब्द का प्रयोग हुआ है दिव्य गुणों से युक्त पतियों के लिये।

पत्नियां कैसी हों? पत्नियां हों (१) देवीः, दिव्य गुणों से युक्त देवियां, (२) आपः, जलधाराओं के समान शीतल, शान्त, सुसिंचिका, सुशोधिका तथा सुप्रवाहिका, (३) शुद्धाः, बाहर से स्वच्छ और भीतर से निर्मल पवित्र।

ऐसी देवियां ही देवोपम प्रजा अथवा दिव्य सन्तान का निर्माण करती हैं। ऐसी मातायें ही अपनी प्रजा का सुष्ठु जीवन बनाती हैं। जननी जनयित्री जीवन-निर्मात्री। जननी का कार्य केवल जनना ही नहीं है, जीवन-निर्माण करना भी है। जननेवाली और जनकर जीवन बनानेवाली माता ही वास्तव में जननी है।

सन्तान के जीवन-निर्माण का प्रारम्भ जन्म से नहीं, गर्भ से भी नहीं, गर्भ-धारण से भी पूर्व, बहुत पूर्व होता है। गर्भाधान से पूर्व माता पिता को अपने जीवन को दिव्य सुदिव्य और पूर्ण सुपूर्ण बना लेना चाहिये। गर्भाधान से पूर्व भूमि के परिष्कार तथा बीज की परिपक्वता का निष्पादन परमावश्यक है।

पिता से सन्तान का आकृतिकरण और माता से सन्तान का प्रकृतिकरण तथा संस्कारकरण होता है। माता के अङ्ग अङ्ग से सन्तान का अङ्ग अङ्ग निर्मित होता है। माता के मस्तिष्क से सन्तान का मस्तिष्क बनता है। माता के हृदय से सन्तान का हृदय बनता है। माता के विचारों से सन्तान का मस्तिष्क संस्कारित होता है। माता की भावनाओं से सन्तान का हृदय भावित होता है। अतः दैवी प्रजनन और दिव्य सन्तान की उपलब्धि के लिये यह परम आवश्यक है कि गर्भाधान से पूर्व दोनों अपने अपने जीवन को सर्वतः दिव्य सुदिव्य बनालें, अन्यथा माता पिता के जीवन की न्यूनतायें तथा त्रुटियां सन्तान के जीवनों में अन्तःस्थ होंगी और सन्तान दिव्य सन्तान न होकर अधम सन्तान होगी।

माता का जीवन पिता के जीवन से भी अधिक दिव्य सुदिव्य होना चाहिये। विशेषतः माता की प्रकृति, विचार और भावनायें जल के समान शीतल, शान्त और परिष्कृत होने चाहियें और उसका अन्तः वाह्य जीवन सम्पूर्णतः शुद्ध सुसंस्कृत होना चाहिये।

देवियां जब सर्वतः शुद्ध होजायें, तब वे गर्भ-स्थिति के लिये विष्टा बनें और तब उनके दिव्य पति गर्भाधान के रूप में वेष्टा बनें। इस प्रकार दिव्य देवियां दिव्य सन्तानों अथवा प्रजाओं का निर्वहन करें। इस प्रकार ही उनकी गोदियों में वे दिव्य शिशु क्रीड़ा करते हैं और उनके आंगनों में वे दिव्य बालक बालिकायें खेलते हैं, जो परिवार, समाज, राष्ट्र और संसार को अपनी दिव्यता से द्योतित कर देते हैं।

"जलशीला शुद्ध देवियो! तुम अतिशय सुष्ठुता के साथ हम देवों में सुपरिविष्टा होकर दिव्य सन्तान का निर्वहन करो। हम दिव्य पति तुम्हारे परिवेष्टा हों", वेदमाता ने पतियों के मुख से उनकी पत्नियों के प्रति यह कहलवाकर दिव्य सन्तान के संसृजन का एक सुविज्ञान ज्ञात कराया है।

इससे पूर्व सर्वत्र पति पत्नी का परस्पर सम्बोधन तथा उद्बोधन एकवचन में हुआ है। यहां बहुवचन में क्यों? पूर्व के एकवचन प्रयोग जातिवाचक होने से बहुपरक अथवा सर्वपरक ही हैं। मानव जाति के लिये जिस प्रकार एकवचन मानव शब्द का प्रयोग किया जाता है, उसी प्रकार वेद में एकवचन प्रयोग प्रायः जातिपरक अथवा सर्वपरक होते हैं।

जलशीला संशुद्ध देवियो,
देवों में होकर परिविष्टा,
होकर सुष्ठुतया परिविष्टा,
होवें हम सर्वतः वेष्टा।

वाचं ते शुन्धामि प्राणं ते शुन्धामि चक्षुस्ते शुन्धामि
श्रोत्रं ते शुन्धामि नाभिं ते शुन्धामि मेढ्रं ते शुन्धामि
पायुं ते शुन्धामि चरित्राँस्ते शुन्धामि ॥ (य० ६/१४)

वाचं ते शुन्धामि प्राणं ते शुन्धामि चक्षुः ते शुन्धामि
श्रोत्रं ते शुन्धामि नाभिं ते शुन्धामि मेढ्रं ते शुन्धामि
पायुं ते शुन्धामि चरित्रान् ते शुन्धामि ॥

गर्भस्थिति से लेकर जन्म तक और जन्म से लेकर पांच वर्ष की आयु तक बालक का प्रथम आचार्य है माता। गर्भावस्था में माता के प्रत्येक अङ्ग का जैसा व्यवहार होगा, गर्भस्थ बालक का प्रत्येक अङ्ग उसी के अनुरूप संस्कार तथा क्षमता ग्रहण करेगा। माता को चाहिये कि गर्भावस्था में अपनी समस्त इन्द्रियों को नीरोग, स्वस्थ और सुन्दर रखे और अपनी समस्त इन्द्रियों के चरित्रों को सर्वथा निर्दोष, निष्पाप और शुद्ध संशुद्ध रखे। पति को भी चाहिये कि वह इस विषय में अपनी पत्नी की पूर्णरूपेण सहायता करे।

जननी किस प्रकार अपने सन्तान का धारण तथा विकास करे, इस विषय का सुन्दर ज्ञान वेदमाता ने इस मन्त्र में मातृसम्बोधन द्वारा कराया है। जब तक गर्भ स्थित रहे, तब तक अपने गर्भस्थ शिशु को और जब बालक का जन्म होजाये, तब साक्षात् अपने शिशु को सम्बोधन करती हुई माता कहती है—

१) मैं (ते वाचं शुन्धामि) तेरी वाणी को शोधती हूं।

गर्भावस्था में माता जिस प्रकार का उच्चारण करती है और जिस प्रकार के वचन बोलती है, गर्भस्थ बालक की जिह्वा उसी प्रकार के संस्कारों से संस्कृत होती है। गर्भावस्था में यदि माता विशेष सावधानी के साथ प्रत्येक शब्द का शुद्ध और स्पष्ट उच्चारण करे और साथ ही सदा सत्य, शिष्ट, शालीन और सुमधुर ही भाषण करे, तो गर्भ में ही बालक की जिह्वा की रचना इस प्रकार की होती है कि बड़ा होने पर उसकी बोली नितान्त स्पष्ट और उसका उच्चारण अतिशय शुद्ध होता है। जो माता ऐसा नहीं करती है, उसके बालक की जिह्वा की रचना ऐसी होती है कि वह बाल्यावस्था में पर्याप्त आयु तक तोतली बोली बोलता है और यावदायुष्य वह अशुद्धोच्चारण करता है।

माता तथा परिवार को चाहिये कि बालक के जन्म के उपरान्त भी बालक के कानों में जो वचन या शब्द पड़ें, वे सर्वथा शुद्ध, स्पष्ट, सत्य, शिष्ट, शालीन और सुमधुर हों। प्रत्येक शिशु अथवा बालक में जानने और सीखने की तीव्र इच्छा अन्तर्निहित होती है। किसी भी प्रकार का शब्द कान में पड़ने पर शिशु कान लगाता है अथवा कनेर करता है और बोलनेवाले के मुख की ओर देखता है। बोलनेवाले के ओष्ठों की तथा उसकी जिह्वा की चेष्टा का अनुकरण करता हुआ वह उसी प्रकार से अपने ओष्ठों तथा अपनी जिह्वा को गति देकर वह श्रुत शब्द या शब्दों को स्वयं उच्चारने की चेष्टा करता है। शिशुओं को मुख समुख खिलाते हुए अथवा लोरियां गाते हुए प्रत्येक व्यक्ति को, विशेषतः सततसंगिनी बालक की माता को, इस वैदिक रहस्य का सदा ध्यान रखना चाहिये। इसी गुह्य रहस्य का उद्घाटन करते हुए माता के मुख से बालक के प्रति कहलवाया गया है, "मैं तेरी वाणी को

शोधती हूं। मैं तुझे शुद्ध, स्पष्ट, सत्य, प्रिय बोलना सिखाती हूं"।

२) मैं (ते प्राणं शुन्धामि) तेरे प्राण को शोधती हूं।

गर्भस्थ बालक माता के प्राण से अनुप्राणित होता है। जिस माता को अस्थमा आदि प्राण-विकार अथवा प्राण-रोग होता है, उसका जन्मा बालक भी प्रायः उस रोग का रोगी होता है। माता को चाहिये गर्भावस्था से पूर्व प्रति दिन पूर्ण प्राणायाम करके अपने प्राण को पूर्णतया स्वस्थ और सम रखे और गर्भावस्था में नित्य गर्भ-प्राणायाम करके गर्भस्थ बालक के प्राण को स्वस्थ और सम बनाये।

बालक के जन्मने पर माता बालक की नासिका को सदा शुद्ध रखे, जिससे उसके श्वास प्रश्वास की गति स्वस्थ और निर्बाध रहे। माता इस बात का भी ध्यान रखे कि सोते जगते बालक के ओष्ठ सदा बन्द रहें, ताकि बालक सदा नाक से सांस लेवे, मुंह से नहीं। जिस बालक के ओष्ठ खुले रहते हैं, वह मुख और नासिका दोनों से सांस लेता है, जिसके परिणामस्वरूप बालक की प्राणशक्ति तथा पाचन-शक्ति दुर्बल होती रहती है। मस्तिष्क तथा चिन्तन-शक्ति पर भी इसका बुरा प्रभाव पड़ता है। मुंह खुला रखनेवाले की स्मरणशक्ति प्रायः दुर्बल होती है और उसके मस्तिष्क में एकाग्रता का भी प्रायः अभाव होता है। ठोरना, नाक बजाना, अच्छी प्रकार सांस न लेना–प्राणसम्बन्धी दोष हैं। इन दोषों से बालक को मुक्त रखना चाहिये।

प्राण की शक्ति को शुद्ध अक्षुण्ण रखने के लिये माता इस बात का भी सदा ध्यान रखे कि बालक को ऐसी स्थिति में सुलाने का अभ्यास डाले कि सोते हुए उसका श्वास प्रश्वास निर्बाधता के साथ प्रवाहित रहे और शयन करते हुए बालक ठोरने न पाये। श्वास प्रश्वास के ठीक प्रकार से प्रवाहित न होने के कारण ही बालक सोते हुए नासिका से ठोरा करता है। माता बालक को लम्बा और गहरा सांस लेने का अभ्यास डाले।

पांच वर्ष की आयु तक नित्य तैल की मालिश तथा गर्म जल के स्नान से बालक की प्राणशक्ति का संवर्धन और परिपाक होता है। आयुर्वेदानुसार प्राणप्रद खाद्य पदार्थों के सेवन से भी बालक का प्राण स्वस्थ और सशक्त होता है।

"मैं तेरे प्राण को शोधती हूं", इस सम्बोधन में माता के लिये चेतावनी है कि वह अपने शिशु के प्राण की शक्ति के विकास का सदा सर्वदा ध्यान रखे।

३) मैं (ते चक्षुः शुन्धामि) तेरे चक्षु को शोधती हूं।

गर्भावस्था में माता अपने नेत्रों को सर्वथा स्वच्छ, नीरोग और स्वस्थ तथा अपनी दृष्टि को अक्षुण्ण निर्विकार रखेगी, तो गर्भस्थ बालक के नेत्र पूर्णतया स्वच्छ, सुन्दर, नीरोग और स्वस्थ तथा उसकी दृष्टि अक्षुण्ण और निर्विकार होगी।

जन्मोपरान्त माता सतर्कता के साथ अपने बच्चे के नेत्रों को सदा सर्वदा स्वच्छ, सुन्दर और नीरोग रखे। साथ ही वह गृह के वातावरण को इतना पवित्र और सुरम्य रखे कि बालक की दृष्टि सदा निर्विकार और निर्दोष रहे। माता सावधानी के साथ ध्यान रखे कि बच्चे की आंखें ऐंडी, भेंडी, ऐंची बेंची, ऐंकी बेंकी न होने पायें। बच्चे को ऐसा अभ्यास डाला जाये कि वह अवलोकनीय वस्तुओं का एकाग्रता तथा गहनता के साथ अवलोकन किया करे। बच्चे की आंखें सोहनी रहें और उसकी दृष्टि मोहनी रहे। साथ ही उसकी दर्शनशक्ति अक्षुण्ण और उसकी दृष्टि विकासोन्मुख रहे।

"मैं तेरे नेत्र को शोधती हूं", माता की इस उक्ति में उपर्युक्त प्रेरणायें निहित हैं।

४) मैं (ते श्रोत्रं शुन्धामि) तेरे कर्णों को शोधती हूं।

गर्भावस्था में माता अपने श्रोत्रों को अन्दर बाहर से नितान्त स्वच्छ, सुन्दर, नीरोग और स्वस्थ तथा अपने श्रवण को शुद्ध और निर्विकार रखेगी, तो गर्भस्थ बालक के श्रोत्र भी स्वच्छ, सुन्दर, नीरोग और स्वस्थ होंगे तथा उसका श्रवण भी अक्षुण्ण और निर्विकार होगा।

जन्मोपरान्त माता सतर्कता के साथ अपने शिशु के श्रोत्रों को सदैव स्वच्छ, सुन्दर और नीरोग रखे। साथ ही वह सतर्कतापूर्वक इस बात का ध्यान रखे कि बालक के कानों में अश्लील शब्द या ध्वनि न पड़ने पाये। बच्चे के कानों में जो शब्द या ध्वनियां गूंजें, वे निर्विकार और सुप्रेरणाप्रद तो हों ही, सुसंस्कारों के सुसम्पादक भी हों। बच्चे को पालने में झुलाते हुए जो लोरियां अथवा गीत गाये जायें, वे सुमधुर सुबोधक और सुपावन हों। बच्चे को ऐसा अभ्यास डाला जाये कि वह प्रत्येक बात कान लगाकर ध्यान से सुने। साथ ही ऐसे साधनोपाय वर्ते जायें कि बच्चे की श्रवणशक्ति सदा अक्षुण्ण और विकासोन्मुख रहे।

बच्चे के कानों का मैल निकालने में बड़ी सावधानी वर्तनी चाहिये। इस विषय में असावधानी वर्तने से बच्चे के कानों में मवाद पड़ जाता है। कानों में तैल डालने से मैल फूल जाता है। तब एक सींक या सलाई पर मुलाइम रुई लपेटकर हल्के हाथ से मैल निकालना चाहिये। खुश्क कानों में से नंगी आल्पीन, सींक या शलाका से मैल निकालना वहुत हानिकारक है। कुपच के कारण भी अनेक कर्णरोग होजाते हैं। कानों में शीतल पवन के प्रवेश तथा पैर के तलवों में सर्दी का असर होजाने से भी कानों में कतिपय रोग होजाते हैं।

"मैं तेरे श्रोत्र को शोधती हूं", माता की इस वैदिक लोरी से इसी कर्णविज्ञान का बोध कराया गया है।

५) मैं (ते नाभिं शुन्धामि) तेरी नाभि को शोधती हूं।

शरीर में तीन कमल होते हैं—शीर्षकमल, हृदयकमल, नाभिकमल। शीर्षकमल का स्थान मस्तक में भ्रुओं [भौओं] के मध्य से लेकर दो अंगुल ऊपर तक है। हृदयकमल हृदयाकाश में है। नाभिकमल नाभि में है। तीनों कमल किस प्रकार खिलते और विकसित होते हैं और उनका योग और भोग में क्या क्या प्रभाव व परिणाम होता है, यह एक लम्बा विषय है। यहां नाभि के प्रसंग में इतना संकेत कर देना अनिवार्य है कि नाभिस्थ कमल शरीर के मध्य लोक में स्थित है और वह ऊर्ध्व लोक [नाभि से ऊपर का सम्पूर्ण भाग] तथा अधोलोक [नाभि से नीचे का सम्पूर्ण भाग] का नियन्त्रण करता है। स्नेहन, जलधार, नाभि-स्नान तथा नाभिप्राणायाम द्वारा नाभि को स्वच्छ, सुन्दर, स्वस्थ और सुविकसित रखने से नाभिकमल, हृदयकमल तथा शीर्षकमल के खिलने और विकसित होने में सहज स्वाभाविक सहायता मिलती है। नाभि तथा नाभिकमल की अवस्था और स्थिति का सम्पूर्ण शरीर के गठन, स्वास्थ्य और विकास पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है।

गर्भावस्था में माता अपनी नाभि को पूर्णतया स्वच्छ, सुन्दर, और स्वस्थ रखेगी, तो गर्भस्थ बालक की नाभि स्वच्छ, सुन्दर और स्वस्थ होगी। यदि माता नित्य अपनी नाभि में स्नेहन करके उसमें जलधार देकर नाभिस्नान करेगी, तो उसके नाभि-कमल का खिलाव तथा विकास होगा और उसके प्रभाव से गर्भस्थ बालक का नाभिकमल सुविकसित होगा।

जन्मोपरान्त माता को चाहिये कि वह अपने शिशु की नाभि को सदा स्वच्छ, सुन्दर और सुविकसित रखने के साधनोपाय करती रहे। बालक

के समझदार होजाने पर वह उसे नाभि की स्वच्छता तथा स्वस्थता का महत्त्व और उसकी विधि बताये।

"मैं तेरी नाभि को शोधती हूं", माता की इस वैदिक उक्ति में यह नाभिविज्ञान निहित है।

६) मैं (ते मेढ़ं शुन्धामि) तेरे मेढ़ को शोधती हूं।

लिङ्ग, मेहनेन्द्रिय, मूत्रेन्द्रिय, सिञ्चनेन्द्रिय अथवा उपस्थेन्द्रिय का नाम मेढ़ है। नरशिशु की इस इन्द्रिय का नाम मेढ़ है। नारीशिशु की इस इन्द्रिय का नाम भग है।

माता को चाहिये गर्भावस्था में अपने भग को कामचेष्टा से सर्वथा मुक्त और शुद्ध रखे। गर्भावस्था में जो माता कामातुर तथा कामरत रहती है, उसकी सन्तान कामी और विषय-लम्पट होती है। जो माता गर्भावस्था में पूर्ण संयम तथा ब्रह्मचर्य से रहती है, उसकी सन्तान में संयम तथा यौनशुचिता के संस्कार होते हैं।

बालक के जन्म के उपरान्त भी माता सर्वथा संयम तथा यौनशुचिता के साथ रहे। जिस कमरे में बालक का निवास अथवा रहन सहन हो, उसके वातावरण को पूर्णतया निर्विकार और शुद्ध रखें। बालक की दृष्टि, श्रुति और उसके वातावरण में माता पिता किसी भी प्रकार की ऐसी बात न आने दें, जिससे उसके संस्कार में विषय विषमता आये।

बालक को स्नान कराते हुए माता नित्य बालक के मेढ़ अथवा बालिका के भग को जल से सम्यक्तया स्वच्छ करे। इस विषय में सावधानी न रखने से बालक के मेढ़ में प्रायः छोटे छोटे अंडे से पड़ जाते हैं। अंडों के पड़ जाने से एक प्रकार की सुरसुराहट होती है, जिससे बालक बार बार अपने मेढ़ को अपने हाथ से पकड़ता और सुरसुराता है और कुचेष्टा करने लगता है।

"मैं तेरे मेढ़ को शोधती हूं", माता की इस वैदिक उक्ति में इसी सावधानी का संकेत हैं।

७) मैं (ते पायुं शुन्धामि) तेरी गुदा को शुद्ध करती हूं।

मेढ़ के समान ही माता अपने शिशु की गुदा का भी सम्यक् शोधन करती रहे। विशेषतः शौच के उपरान्त तथा स्नान कराते समय माता अपने बालक की गुदा को जल से अच्छी प्रकार धोये।

८) मैं (ते चरित्राञ् शुन्धामि) तेरे चरित्रों को शोधती हूं।

चरित्रान् से तात्पर्य इन्द्रियों के व्यवहार से है। माता सावधानी के साथ बच्चे को प्रत्येक इन्द्रिय से शुद्ध चेष्टा और शुद्ध व्यवहार सिखाये। किस प्रकार बोलना, किस प्रकार सांस लेना और सूंघना, किस प्रकार देखना, किस प्रकार सुनना, किस प्रकार खेलना, किस प्रकार मल मूत्र त्यागना, प्रत्येक इन्द्रिय का किस प्रकार प्रयोग करना—इत्यादि व्यवहार माता सावधानी के साथ अपने बालक बालिका को सिखाये।

चरित्र नाम शिष्ट आचार का भी है। गोदी में से ही माता अपने बच्चे को शिष्ट आचारों की शिक्षा करे। जी अजी और अदब आदर के साथ सत्य सुमधुर शिष्ट भाषण करना, नीची शालीन दृष्टि से देखना, बड़ों के आदेश को आदर और एकाग्रता के साथ श्रवण करके उसका यथावत् पालन करना, शिष्टता के साथ बैठना, शालीनता के साथ चलना, प्रत्येक कार्य यथाविधि करना, खड़े होकर स्वागत और अभिवादन करना, मान मर्यादा तथा परम्पराओं का ध्यान रखना, इत्यादि शिष्ट आचारों की रीति नीति भी माता बच्चे को सिखाये।

शोधती हूं तेरी वाणी को,
शोधती हूं मैं तेरा प्राण,
शोधती हूं तेरे चक्षु को,
शोधती हूं मैं तेरा श्रोत्र,
शोधती हूं तेरी नाभि को,
शोधती हूं मैं तेरा मेढ़,
शोधती हूं तेरे पायु को,
शोधती हूं तेरे चारित्र ॥

मनस्त आ प्यायतां वाक्त आ प्यायतां
प्राणस्त आ प्यायतां चक्षुस्त आ प्यायतां
श्रोत्रं त आ प्यायताम् । यत्ते क्रूरं यदास्थितं
तत्त आ प्यायतां निष्ट्यायतां तत्ते शुध्यतु
शमहोभ्यः । ओषधे त्रायस्व स्वधिते मैनं
हिंसीः ॥ (य० ६/१५)

मनः ते आ-प्यायतां वाक् ते आ-प्यायतां प्राणः ते
आ-प्यायतां चक्षुः ते आ-प्यायतां श्रोत्रं ते
आ-प्यायताम् । यत् ते क्रूरं यत् आ-स्थितं
तत् ते आ-प्यायतां निःत्यायतां तत् ते शुध्यतु
शं अहःभ्यः । ओषधे त्रायस्व स्व-धिते मा एनं
हिंसीः ॥

छटे वर्ष से आठवें वर्ष की आयु तक बालक का दूसरा आचार्य है पिता। माता संस्कारदा। पिता विकासदा। पांच वर्ष तक की आयु संस्कारायु है। पांच वर्ष तक की आयु में बालक के जीवन में जो जैसे संस्कार समंकित होजाते हैं, उन्हीं के आधार पर वह यावज्जीवन विकसित अथवा वृद्धिगत होता रहता है। अतः पांच वर्ष की आयु तक माता बालक बालिका को सुसंस्कारों से सुसंस्कृत करे और तदुपरान्त पिता उन सुसंस्कारों को विकसित करे, तो बालक का और संसार का महान् हित होता है। इसी उद्देश्य से वेदमाता पिता के मुख से बालक के प्रति कहलवा रही है—

१) (ते मनः आप्यायताम्) तेरा मन आप्यायित हो/सुविकसित हो/व्याप जाये।

आप्लृ व्याप्तौ। प्यायताम् क्रिया का जन्म आप्लृ धातु से हुआ है, जिसका अर्थ है व्यापना, फैलना; विकसित होना।

जीवन के विकास में मन के विकास का सर्वोपरि स्थान है। जब कोई पर्यटक किसी नये नगर में उस नगर के किसी सुपरिचित व्यक्ति के साथ भ्रमण [सैर] करने जाता है, तो वह वहां की प्रत्येक वस्तु के विषय में जिज्ञासा-भाव से प्रश्न करता है—यह क्या है, यह कैसी इमारत है, यह किसका भवन है, यह किसका उद्यान है, इस़ बाग़ में क्या क्या फल उगते हैं, इत्यादि। उसका साथी उसके प्रत्येक प्रश्न का समाधानकारक उत्तर देकर उसकी जिज्ञासानिवृत्ति करता जाता है। इस प्रकार उस नगर के विषय में ज्यों ज्यों पर्यटक की जानकारी बढ़ती जारही है, त्यों त्यों उसे प्रसन्नता होती जारही है।

दम्पति का नन्हा सा बालक भी इस संसार का एक नवागन्तुक पर्यटक है। कभी वह सूर्य की ओर अंगुली करके पूछता है—यह क्या है। कभी वह चन्द्रमा की ओर इशारा करके पूछता है—यह क्या है। कभी वह पूछता है—सूर्य को किसने बनाया, कैसे बनाया, चन्द्रमा को किसने बनाया, कैसे बनाया, यह इतना ऊंचा पहाड़ कैसे बना, यह नदी इधर से उधर को क्यों बह रही है उधर से इधर को क्यों नहीं बहती, हवा दिखाई क्यों नहीं देती, आकाश कितना बड़ा है, ओम् कौन है कहां रहता है, आत्मा क्या है। बच्चे के इस प्रकार के प्रश्नों को उसकी बहक न

समझिये, उसकी स्वाभाविक जिज्ञासा समझिये और उसके प्रश्नों के ऐसी सहज सरल रीति से उत्तर दीजिये कि जिससे उसकी जिज्ञासा की निवृत्ति हो, उसके ज्ञान की वृद्धि हो और परिणामतः उसे प्रसन्नता की प्राप्ति के साथ साथ उसका मानसिक विकास भी हो। अपने बालक के जिज्ञासापूर्ण प्रश्नों के विनोदपूर्ण मिथ्या उत्तर देकर अथवा उसके प्रश्नों को टालकर आप अपने बालक के मन के विकास को रोक रहे होते हैं और उसका मानसिक ह्रास कररहे होते हैं। शैशवावस्था से ही बालक के माता पिता तथा परिवार परिजन इस बात का सदा ध्यान रखें कि बालक के जीवन के विकास के लिये उसके मन का विकास सर्वोपरि है। विश्व में कहीं भी विचरता हुआ बालक विश्व की हर वस्तु के विषय में सब कुछ जानना चाहता है। इसीलिये वह सर्वत्र प्रश्नों की झड़ी लगाता रहता है। अपने प्रश्नों के यथार्थ समाधान से उसके ज्ञान की वृद्धि होरही होती है। ज्ञान की वृद्धि से उसके मन का विकास हो रहा होता है।

पिता प्रसन्नतापूर्वक उसकी प्रत्येक जिज्ञासा का निवारण करता जाता है और मन ही मन कहता जाता है, "मेरे प्यारे बच्चे! तेरा मन आप्यायित होता जाये, तेरा मन सुविकसित होता चला जाये, तेरा मन व्यापनशील होजाये।"

२) (ते वाक् आ–प्यायताम्) तेरी वाणी आप्यायित हो/सुविकसित हो/व्यापे।

मन अथवा ज्ञान के विकास के साथ साथ वाणी अथवा वाङ्मय का विकास भी होना चाहिये। पांच वर्ष की आयु से सोलह वर्ष की आयु तक बालक में स्मरण रखने और कण्ठाग्र करने की प्रबल क्षमता होती है, जबकि चिन्तन और विश्लेषण की क्षमता इस आयु में अपेक्षाकृत कम होती है। इसीलिये प्राचीन काल में आचार्यगण सोलह वर्ष की आयु तक अपने विद्यार्थियों को व्याकरण, वेद, शास्त्र, काव्य, आदि कण्ठाग्र कराया करते थे और तदुपरान्त कण्ठाग्र किये विषय के रहस्य समझाया करते थे। सोलह वर्ष की आयु तक बालक जो कुछ सुनता है, उसे झट याद कर लेता है। यह भी ध्रुव सत्य है कि सोलह वर्ष की आयु तक बालक में विविध भाषाओं के सीखने की बहुत तीव्र वृत्ति होती है। पिता को चाहिये कि बालक को प्राथमिक शिक्षा देता हुआ उसके वाङ्मय को समृद्ध और सम्पन्न करने की ओर विशेष प्रयत्नशील रहे।

३) (ते प्राणः आ-प्यायताम्) तेरा प्राण आप्यायित हो/सुविकसित हो/व्यापे।

गर्भ में निवास करते हुए बालक का प्राण सर्वथा रुन्धित रहता है। गर्भ में स्थित रहते हुए बालक के ग्यारहों प्राण सर्वथा सुप्त रहते हैं। गर्भ से बाहर निकलते ही शिशु के प्राण जागृत होते हैं। प्राण के जागरण से बालक की सुप्त चेतना प्रचेतित होती है। चेतना के प्रचेतने से वह देखने, सुनने, बोलने, उठने, बैठने, खड़े होने, चलने, फिरने और विविध प्रकार की गति, प्रगति तथा क्रीडा की ओर प्रवृत्त होता है। ज्यों ज्यों बच्चा होश संभालता जाता है, त्यों त्यों वह पिता के साथ बाहर जाकर विशाल संसार को देखने, जानने और आनन्द मनाने की इच्छा करता है। पिता को चाहिये कि वह अपने बालक या बालिका को यथासमय यथा-वसर अपने साथ बाहर लेजाकर उसे घुमाये फिराये। घूमने फिरने से प्राण का बल बढ़ता है। जो बालक घूमते फिरते नहीं हैं, उनका प्राण दुर्बल रहता है और परिणामस्वरूप उनका स्वास्थ्य प्रायः दीन रहता है। इसीलिये प्रातः सायं भ्रमण [सैर] करनेवाले व्यक्तियों का प्राण स्वस्थ और सक्षम रहता है। खेल कूद से भी बच्चे की प्राणशक्ति का विकास होता है। एक अच्छे पिता का यह पुनीत कर्तव्य है कि वह अपने बच्चे के खेल कूद की सुचारु व्यवस्था अवश्य करे। विनोद और हास्य भी

प्राण के विकास में बहुत सहायक हैं और स्वभावतः ही बच्चों को विनोद और हास्य बड़ा प्रिय होता है। पौष्टिक और प्राणप्रद पदार्थों के सेवन से भी बालक का प्राण विकसित होता है। स्नेह और निर्भयता बालक के प्राण को पुष्ट करते हैं। कठोर व्यवहार और भय बालक की प्राण-शक्ति का ह्रास करते हैं। पूर्ण और गहन श्वास प्रश्वास तथा हल्के प्राणायाम से भी बच्चों का प्राण स्वस्थ और विकासोन्मुख रहता है। प्राण के विकास से जीवन का विकास होता है। इसीसे जीवन के लिये प्राण शब्द का प्रयोग होता है। इसीलिये कहा है—प्राणो वै जीवनम्, प्राण ही जीवन है। स्वस्थ प्राण स्वस्थ जीवन। अस्वस्थ प्राण अस्वस्थ जीवन। पिता को चाहिये कि प्राणविज्ञान के सब साधनोपायों से बालक की प्राणक्षमता तथा जीवनशक्ति का विकास करे।

४) (ते चक्षुः आ-प्यायताम्) तेरा नेत्र आप्यायित हो/विकसित हो/व्यापे।

चक्ष दर्शने। दर्शन अथवा देखने का साधन होने से नेत्रों का नाम चक्षु है। चक्षु शब्द का प्रयोग यहां दर्शन, अवलोकन तथा निरीक्षण के अर्थ में हुआ है। नन्हे बालक के लिये यह संसार उसका नया संसार है, जिसका उसे अभी कुछ भी ज्ञान नहीं है। इस संसार में वह जीने के लिये जन्मा है और यहां आकर उसे चन्द रोज़ नहीं, पूरे सौ वर्ष रहना है। तो उसे इस विशाल संसार की, इस संसार के प्राणियों और पदार्थों की, जानकारी की इच्छा और आवश्यकता होना स्वाभाविक ही है। वह अपने सब ओर नई नई अज्ञात वस्तुयें देखता है और उनके विषय में प्रश्न पर प्रश्न करता है। वह प्रत्येक पदार्थ को सरसरी निगाह से नहीं, ध्यानपूर्वक देखता है और पूछता है—यह क्या है, वह क्या है, यह कैसे, वह कैसे। पिता को चाहिये कि वह उसे प्रत्येक वस्तु या पदार्थ को अच्छी प्रकार अवलोकन कराये और उसके विषय में प्रत्येक बात अच्छी तरह समझाये, ताकि उसकी चक्षण-दर्शन-अवलोकन-निरीक्षण-शक्ति का सम्यक् विकास होता चला जाये।

५) (ते श्रोत्रं आ-प्यायताम्) तेरा श्रोत्र आप्यायित हो/विकसत हो/व्यापे।

श्रवण अथवा सुनने का साधन होने से कर्णों [कानों] को श्रोत्र कहते हैं। बाल्य काल से बालक को ऐसा अभ्यास कराना चाहिये कि वह प्रत्येक शब्द और प्रत्येक बात को ध्यानपूर्वक एकाग्रता के साथ सुने। ऐसा करने से जहां बालक सब प्राणियों की बोलियां पहचानता है, वहां उसका वाङ्मय भी समृद्ध होता जाता है। ध्यानपूर्वक देखने और सुनने के अभ्यास से बालकों में स्वभावतः और स्वयमेव एकाग्रता का संस्कार संनिहित होजाता है, जिससे उसके जीवन का निर्बाध संविकास होता है।

६) (ते यत् क्रूरं) तेरा जो क्रूर [स्वभाव] है, तेरी जो क्रूरता है, (ते तत्) तेरा वह (निःत्याय-ताम्) बाहर निकल जाये, (शुध्यतु) शुद्ध होजाये, धुल जाये।

ज्यों ज्यों बालक बड़ा होता जाये, त्यों त्यों उसके स्वभाव के सम्पादन की दिशा में सतर्कता वर्ती जानी चाहिये। स्वभाव का मानव के सुख दुःख तथा विकास और ह्रास से विशेष सम्बन्ध है। अपने उत्तम स्वभाव से मनुष्य जितना सुखी, समुन्नत तथा सुविकसित होता है, उतना अन्य किसी प्रकार से नहीं। स्वभाव दो प्रकार का होता है—सहृदय तथा क्रूर। स्वभाव की सहृदयता हृदय-हृदय को प्रसन्न करती है और क्रूरता हृदय-हृदय को खिन्न करती है। सहृदय व्यक्ति सबकी सुसेवा करके सबका प्यारा बनता है। क्रूर व्यक्ति सबकी कुसेवा करके सबका घृणापात्र बनता है। पिता और परिवार को योग्य है कि बालक के स्वभाव में से

क्रूरता का निराकरण करके उसे सोम्य, सुशील, सहृदय और शालीन बनायें।

७) तेरा (यत् आ-स्थितं) जो आ-स्थित है, (ते तत् आप्यायताम्) तेरा वह आप्यायित हो/विकसित हो/व्यापे।

आस्थित का अर्थ है आस्थित्य, स्थैर्य, धैर्य। बालक के स्वभाव में स्वभावतः आस्थित्य होता है। जिस बालक के स्वभाव में क्रूरता होती है, उसका आस्थित्य हठ या ज़िद में परिवर्तित होजाता है। जिस बालक के स्वभाव में सहृदयता होती है, उसका आस्थित्य स्थैर्य और धैर्य में परिवर्तित होता है। हठ या ज़िद से बालक हठी, ज़िद्दी, दुराग्रही बनता है। स्थैर्य और धैर्य उसे स्थिर, धीर, वीर, अडिग, गहन, गम्भीर बनाता है। बालक की प्रकृति में आस्थित्य की स्थापना का पिता विशेष ध्यान रखे।

८) (अहःभ्यः शम्) दिनों के लिये सुख-शान्ति।

बालक के जीवन, स्वभाव और प्रकृति में उपर्युक्त गुणों की स्थापना से बालक के दिनों के लिये, बालक के भावी जीवन-दिनों के लिये, सुख शान्ति की बुनियाद रखी जाती है। जिस बालक के जीवन में उपर्युक्त रीति से संविकास होता है, उस बालक से सब दिनों सबको सदा सर्वदा सुख शान्ति मिलती है।

९) (ओषधे) ! (त्रायस्व) तार।

पिता को यहां ओषधे शब्द से सम्बोधन करके वेदमाता ने पितृधर्म का प्रकाशन किया है। ओषधिर्वै दोषधिर्भवति। ओषधि निस्सन्देह दोषनिवारक होती है। पिता बालक के लिये ओषधिवत् दोषनिवारक होना चाहिये। पिता का भी, और माता का भी, जीवन ऐसा निर्दोष, निष्पाप और निष्पन्न हो कि उनके अनुकरण से बालक के जीवन में कोई दोष प्रवेश न करने पाये। पिता सतर्कता के साथ बालक को स्वभाव-दोष, व्यवहार-दोष, आचार-दोष, शरीर-दोष, आदि, सब प्रकार के दोषों से तारता रहे। माता भी बालक को सब प्रकार के दोषों से निस्तारती रहे।

१०) (स्व-धिते) ! (एनं मा हिंसीः) इसे मत हिंस।

स्व-धिति का अर्थ है आत्म-धृति, आत्म-धारणा। हिंसा का प्रयोग यहां त्यागने के अर्थ में हुआ है। स्वधिति नाम बरछी का भी है। पिता बरछी बनकर बालक की हिंसा न करे, अपि तु आत्म-धृति बनकर बच्चे की रक्षा करे।

स्वधिते एनं मा हिंसीः, इस वेदादेश में पिता के लिये एक गम्भीर चेतावनी है। जो पिता निर्दोष, निष्पाप और निष्पन्न नहीं है, वह अपने बालक के लिये वह बरछी है, जो बालक के जीवन की सदा के लिये हत्या कर देती है। जो पिता निर्दोष, निष्पाप और निष्पन्न है, वह अपने बालक के लिये वह आत्म-धृति है, जो अपने बालक के जीवन को सदा के लिये सर्वतः और सर्वथा सुरक्षित कर देती है।

मन तेरा आप्यायित होवे,
वाक् तेरी आप्यायित होवे,
प्राण तेरा आप्यायित होवे,
नेत्र तेरा आप्यायित होवे,
श्रोत्र तेरा आप्यायित होवे।
तेरा है जो क्रूर तेरा वह,
निराकृत होवे धुल जाये।
तेरा जो आस्थित्य,
तेरा वह हो आप्यायित।
सभी दिनों के लिये,
शान्ति होवे सुख होवे।
तार ओषधे,
स्वधिते इसको हन न कदापि॥

रक्षसां भागोऽसि निरस्तं रक्ष इदमहं रक्षोऽभि तिष्ठामीदमहं रक्षो ऽव बाध इदमहं रक्षोऽधमं तमो नयामि। घृतेन द्यावापृथिवी प्रोर्णुवाथां वायो वे स्तोकानामग्निराज्यस्य वेतु स्वाहा स्वाहाकृते ऊर्ध्वनभसं मारुतं गच्छतम् ॥ (य० ६/१६)

रक्षसां भागः असि निःअस्तं रक्षः इदं अहं रक्षः अभि-तिष्ठामि इदं अहं रक्षः अव-बाधे इदं अहं रक्षः अधमं तमः नयामि। घृतेन द्यावापृथिवी प्र-ऊर्णुवाथां वायो वेः स्तोकानां अग्निः आज्यस्य वेतु स्वाहा स्वाहाकृते ऊर्ध्व-नभसं मारुतं गच्छतम् ॥

पत्नी अपने पति से कहरही है—तू (रक्षसां भागः असि) राक्षसों का भाग है, (रक्षः निःअस्तंम्) राक्षस-समूह निरस्त-निराकृत होजाये।

भाज पृथक्कर्मणि। भागः का अर्थ है पृथक् करनेवाला। विकार, कुशील, कुचेष्टा, कदाचार, अशिष्टता, अभद्रता आदि हैं, वे राक्षस, जिन्हें बालक के जीवन से सतर्कता के साथ निरस्त अथवा निराकृत रखना है।

पिता राक्षसों का पृथक् करनेवाला है और उसका कर्तव्य है कि वह अपने प्राणप्रिय बालक की राक्षसों से सर्वतः रक्षा करे। पिता परिवार के वातावरण को इतना परिशुद्ध और उसकी संगति को इतना विशुद्ध रखे कि बालक के जीवन में राक्षस प्रवेश ही न करने पायें और प्रवेश करने लग जायें तो सद्यः उनका निरस्तीकरण होजाये। ज्यों ही कभी वह देखे कि उसके बालक के भीतर राक्षस प्रवेश कररहे हैं, त्यों ही वह उनके प्रवेश के कारणों का पता लगाकर ऐसा साधनोपाय करे कि अविलम्ब उनका निराकरण होजाये। बालक उस सुकोमल पौधे के समान है, जिसे किसी भी ओर मोड़ा या विकसित किया जा सकता है और जिसमें कैसे भी संस्कार अंकित किये जा सकते हैं।

पति कहता है—(इदं अहं रक्षः अभि-तिष्ठामि) यह मैं राक्षसों के प्रति अभि-स्थित होता हूं, (इदं अहं रक्षः अव-बाधे) यह मैं राक्षसों को अवबाधता-रोकता हूं, यह मैं राक्षसों का अवबाधन करता हूं, (इदं अहं रक्षः अधमं तमः नयामि) यह मैं राक्षसों को तथा अधम अन्धकार को लेजाता हूं।

अभि का अर्थ है सब ओर। तिष्ठ का अर्थ है स्थित होना। यह मैं राक्षसों के प्रति अभि- तिष्ठित होता हूं—यह कहकर पिता ने अपती सतर्कता तथा निष्ठा का परिचय दिया है। पिता का कर्तव्य है कि वह अपने बालक के सब ओर स्थित रहे, सतर्कता के साथ उसके सब ओर देखता रहे। किसान जिस प्रकार अपने खेत के चारों ओर घूम-फिर-कर अन्न की रक्षा करता रहता है, उसी प्रकार पिता अपने पुत्र पुत्री के सब ओर के वातावरण को शोधता रहे।

किसान जिस प्रकार संनद्धता के साथ अपने धान्य के खेत से पशु-पक्षियों को अवबाधित करता रहता है, उसी प्रकार बालक के जीवन से पिता राक्षसों का अवबाधन करता रहे। यह मैं राक्षसों का अवबाधन करता हूं—यह कहकर पिता ने उसी संनद्धता का द्योतन किया है।

प्रकाश प्रकृष्ट है और तम [अन्धकार] अधम है। सूर्य जब उदय होता है, तो अधम तम स्वयमेव विलीन होजाता है। अन्यथा तो कितना भी प्रयत्न किया जाये, अन्धकार मिटाये नहीं मिटता है। उदय होता हुआ सूर्य ही अन्धकार को ले जाता है

[हटाता है], अस्त होता हुआ नहीं। राक्षस अधम अन्धकार में पनपते हैं और प्रकाश से उनका निवारण होता है। ज्ञानोदय से उदित पिता अपने बालक के मानस को विकसित और प्रकाशित करता हुआ उसके अज्ञानरूपी अधम तम का निवारण करे। अधम तम के निवारण से राक्षस स्वयमेव पलायन कर जाते हैं। किस किस कदाचार और कुचेष्टा से क्या क्या हानि होती है, कुशील और अशिष्टता से कैसी अशोभनीयता होती है, पिता यथासमय और यथावसर अपने बालक को यह सब कुछ सुझाता समझाता रहे। यह मैं राक्षसों को तथा अधम तम को लेजाता हूं—यह कहकर पिता ने इसी तत्त्व का प्रकाशन किया है।

अब वेदमाता पति पत्नी अथवा माता पिता दोनों को सम्बोधन करती है—

१) (द्यावा-पृथिवी) ! तुम दोनों इसे (घृतेन प्र-ऊर्णु थाम्) घृत से प्र-आच्छादित करो।

माता पृथिवी पिता द्यौः। द्यौः पिता पृथिवी माता। द्यौ द्युति का प्रतीक है। पृथिवी प्रतीक है सह और पोषण की। पिता सन्तान का द्योतन करता है। माता उसे सस्नेह सहारती है और उसका पालन पोषण करती है।

जैसाकि य० २/६ की व्याख्या में समझाया गया है, स्निग्धता, तेज, प्रज्वलन और प्रकाशन जिसमें हो, उसे घृत कहते हैं।

"पितः मातः ! तुम दोनों अपने बालक को स्निग्ध स्नेह, तेज, प्रज्वलन और प्रकाशन से प्राच्छादित करो", वेदमाता के इस सम्बोध-वाक्य में सन्तति-विज्ञान का एक गूढ़ रहस्य संनिहित है। माता पिता का यह पुनीत कर्तव्य है कि वे अपने बालक में तेज की स्थापना करके उसे तेजस्वी बनायें। तेजस्वी बनाने के लिये उसके बोध का प्रज्वलन [उद्बोधन] तथा उसके हृदय [भावना] का प्रकाशन करें। यह माता पिता को सस्नेह करना चाहिये, कठोरता के साथ कदापि नहीं। बच्चे के साथ कठोरता, मार पीट तथा गाली गलौच करने से वह या तो भयभीत रहता है अथवा ढीठ होजाता है। भयभीत होने से उसका विकास रुक जाता है। ढीठ होने से वह निष्ठुर होजाता है और माता पिता से विरोध तथा घृणा करने लगता है।

२) (वायो) ! तू (स्तोकानां वेः) स्तोकों का ज्ञान-ध्यान रख और (अग्निः आज्यस्य वेतु) अग्नि आज्य का ज्ञान-ध्यान रखे।

वायुः पिता अग्निर्माता। पिता वायु है, उसे वायु के समान वेगवान्, गतिशील और प्राणरस होना चाहिये। माता अग्नि है, उसमें अग्नि के समान स्नेह की ऊष्मा, प्रेम की गर्मी, होनी चाहिये।

स्तोक का अर्थ है जलबिन्दु, पानी की बहुत छोटी लघुतम बूंद। स्तोक स्तोक करके तालाब भर जाता है, बड़े बड़े जलाशय आपूर भर जाते हैं।

घृत के नामों में से एक नाम आज्य भी है। आज्य में और घृत में एक अन्तर है। आज्य में से घृत का जन्म होता है। आज्य नाम लौनी अथवा मक्खन का है। लौनी या मक्खन को तपाकर छाना जाता है, तब घृत का जन्म होता है।

वायुरूप प्राणप्रद पिता को चाहिये कि वह स्तोकों के रहस्य को सदा ध्यान में रखे। जिस प्रकार छोटी छोटी बूंदे जलाशय को जल से पूर देती हैं, उसी प्रकार छोटी छोटी बातों की शिक्षा से बालक में पूर्णता आती है। बिन्दु बिन्दु ज्ञान और अभ्यास बालक के जीवन-घट को पूरता चला जाये। बिन्दु बिन्दु अभ्यास से स्थिर और स्थायी सम्पूर्ति होती है। जल्दी जल्दी अधिकाधिक सिखाने पढ़ाने की धुन से लाभ की अपेक्षा हानि अधिक होती है।

प्रेमाग्निरूपा माता को सदा ध्यान रहे कि आज्य को आग पर तपाकर छानने से शुद्ध घी बनता है। उसी प्रकार बालकरूपी आज्य तब ही घृत बनेगा, जब उसे शनैः शनैः तपाया और छाना जायेगा। माता को चाहिये कि वह बचपन में ही अपने बच्चे के जीवन में तप और पवित्रता के संस्कार जमाती चली जाये।

पिता बालक के जीवन-घट में बूंद बूंद गुणामृत भरता रहे और माता उसके जीवन आज्य को तप और पवित्रता के संचार से शोधती रहे।

३) दोनों (स्वाहाकृते) स्वाहाकारियो! (स्वाहा) स्वाहाकार द्वारा (ऊर्ध्व-नभसं मारुतं गच्छतम्) ऊर्ध्व-नभस मारुत को प्राप्त रहो।

ऊर्ध्व का अर्थ है ऊपर। नभस् के प्रसिद्ध अर्थ हैं आकाश और जल। मारुत नाम उस पवन का है, जो सागर से बादलों को ऊपर आकाश में ले जाता है और फिर उन्हें आकाश-मार्ग से दूर दूर उड़ा ले जाकर दूर दूर वृष्टि करता है।

माता पिता को यहां स्वाहाकारी कहकर प्रेरित किया गया है कि वे ऊर्ध्व-नभस पवन को प्राप्त रहें। सन्तान के सुख सौभाग्य और जीवन-निर्माण के लिये स्व सर्वस्व का त्याग करनेवाले माता पिता स्वाहाकारी हैं। आदर्श माता पिता अपने बालक के जीवन को समलंकृत करने के लिये न केवल अपने धनैश्वर्य का, अपि तु अपने व्यसन-विलासों तथा अपने दुरितों का भी त्याग करते हैं।

जिस प्रकार ऊर्ध्व-नभस मारुत बादलों को आकाश में ऊपर चढ़ाता है और दूर दूर प्रदेशों में वृष्टि कराता है, उसी प्रकार माता पिता ऊर्ध्व-नभस मारुत बनकर अपने पुत्र-पुत्रियों को सर्वतः ऊंचा उठायें और उनके जीवनों को ऐसा बनायें कि वे संसार में जहां कहीं भी जायें या रहें, वहीं सर्वत्र सबके लिये सुख सौभाग्य की सुवृष्टि करें।

तू है भाग राक्षसों का,
रहें राक्षस सदा निराकृत।
यह मैं रहता हूं अभितिष्ठित,
राक्षसों के निराकरण में।
यह मैं अववाधन करता हूं,
राक्षसों के निराकरण में।
ले जाता हूं यह मैं सर्वतः,
राक्षसों को, अधम तम, को।
घृत से प्र-आच्छादित करदो,
द्यावापृथिवी!
वायो! ज्ञान रहे स्तोकों का,
अग्नि रखे ध्यान आज्य का।
स्वाहाकारी तुम दोनों ही,
प्राप्त रहो सन्तत मारुत को,
ऊर्ध्व-नभस मारुत वायु को॥

इदमापः प्र वहतावद्यं च मलं च यत्।
यच्चाभिदुद्रोहानृतं यच्च शेपे अभीरुणम्।
आपो मा तस्मादेनसः पवमानश्च मुञ्चतु ॥ (य० ६/१७)
[ऋ० १.२३.२२, १०.९.८, अ० ७.८९.३]

इदं आपः प्र-वहत अ-वद्यं च मलं च यत्।
यत् च अभि-दुद्रोह अनृतं यत् च शेपे अभीरुणम्।
आपः मा तस्मात् एनसः पवमानः च मुञ्चतु ॥

माता और पिता सन्तान के लिये केवल आचार्या और आचार्य ही नहीं हैं, वे अपनी सन्तान के लिये प्रत्येक दिशा में आदर्श भी हैं। उन्हें स्मरण रखना चाहिये कि बच्चों में जहां जानने और सीखने की स्वाभाविक वृत्ति होती है, वहां उनमें अनुकरण करने की प्राकृत प्रवृत्ति भी होती है। बच्चे जैसा देखते हैं, वैसा ही करते हैं और जैसा सुनते हैं वैसा ही बोलते हैं। साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिये कि बालक जैसा देखते और सुनते हैं, वैसे ही उनके विचार, व्यवहार और जीवन बनते हैं।

माता पिता को अपने चिन्तन, अपने विचार, अपनी दृष्टि, अपनी श्रुति, अपनी वाणी, अपने क्रतु [कर्तृत्व, चेष्टा, व्यवहार], अपनी भावना और अपने जीवन पर सदा सतर्क दृष्टि रखनी चाहिये। उन्हें प्रति प्रातः सोकर उठते ही और रात्रि को शयन से पूर्व कुछ मिनट नित्य आत्म-निरीक्षण करना चाहिये कि उनके जीवन में कोई ऐसी बात तो नहीं है, जिसके अनुकरण से उनकी सन्तान का जीवन नष्ट भ्रष्ट हो। वे दोनों मनोयोग के साथ देखें कि उठने से सोने तक और सोने से उठने तक उन्होंने कोई ऐसा विचार व्यवहार तो नहीं किया, जिसके अनुकरण से उनके बच्चों के जीवन-निर्माण में हानि हो। माता पिता को सर्वथा निर्दोष, निष्पाप, निर्व्यसनी और निर्विकार होना चाहिये। तब ही उनकी सन्तान आदर्श सन्तान होगी।

आत्मनिरीक्षण द्वारा अपनी त्रुटियों पर दृष्टि डालकर माता आत्मकामना करे, पिता आत्मभावना करे—

१) मुझमें (यत्) जो (अवद्य) अवद्य (च च) अपि च (मलं) मल है, (आपः) आपो ! (इदं प्रवहत) इसे प्रवहन करो, इसे बहा ले जाओ।

आप्लृ व्याप्तौ। आपः नाम व्यापनशील और प्रवाहशील का है। आपः शब्द का प्रयोग सदा बहुवचन में होता है। प्रवाह के साथ सतत प्रवाहित रहते हुए जो सदा व्यापते रहते हैं, उन्हें आपः कहते हैं। जल आपः हैं, क्योंकि वे सदा प्रवाहित और तरंगित रहते हुए व्यापते रहते हैं। आप्त पुरुष आपः हैं, क्योंकि वे सदा सर्वदा भ्रमण और रमण करते हुए विश्व में सर्वत्र उत्तम विचारों और कर्मों का सुप्रवाह प्रवाहित करते रहते हैं। आपः नाम कर्मों का भी है, क्योंकि वे प्रवाह से सततगामी हैं। आपः नाम प्रजाओं का भी है, क्योंकि वे सदा प्रवाहित रहती हैं। इसी प्रकार सुविचारों और सुभावनाओं से युक्त अन्तःप्रेरणायें आपः हैं, रश्मियां आपः हैं, पश्चात्ताप के अश्रु आपः हैं। लोकलोकान्तर आपः हैं। आपः शब्द का प्रयोग इस मन्त्र में सुविचारों और सुभावनाओं से युक्त आत्मप्रेरणाओं के लिये हुआ है।

वद व्यक्तायां वाचि। वद्य=बोलनेयोग्य, सुवाच्य। अवद्य=नहीं बोलनेयोग्य, कुवाच्य।

मल का अर्थ है त्याज्य, गन्दगी, अपवित्रता, अपवित्र विचार भावना, अपावन व्यवहार, अशुचिता। जो कुछ भी अपवित्र है, वह सब मल है, त्याज्य है। जो कुछ पवित्र है, वह सब निर्मल है, संग्राह्य है।

कुवाच्य और मल का परस्पर अटूट सम्बन्ध है। जहां मल होता है, वहीं कुवाच्य होता है। जहां निर्मलता होती है, वहां सुवाच्य होता है। वाच्य अन्दर से बाहर आता है। यदन्तरं तद्बाह्यम्। जो अन्दर होता है, वही बाहर आता है। जिसके अन्तःकरण में पवित्रता होती है, उसके भीतर से सुवाच्यों का सुप्रवाह प्रवाहित रहता है। जिसके अन्तःकरण में अपवित्रता होती है, उसके भीतर से कुवाच्यों का कुप्रवाह प्रवाहित रहता है।

अवद्य का अर्थ निन्दनीय कर्म भी है। सुकर्म वद्य है। कुकर्म अवद्य है। पवित्र अन्तःकरण से युक्त व्यक्ति के जीवन से सदा सुकर्मों का सुप्रवाह बहता है, तो अपवित्र अन्तःकरण से युक्त जीवन से सदा कुकर्मों का कुप्रवाह बहता है।

आत्मनिरीक्षणकर्त्री जो माता और आत्म-निरीक्षणकर्ता जो पिता आत्मप्रेरणाओं द्वारा अवद्य और मल से अपने आपको मुक्त रखते हैं, वे अतिशय वद्य और निर्मल होते हैं, उनके अन्तःकरण इतने पवित्र और उनके वचन और कर्म इतने प्रशस्त होते हैं कि उनके सुप्रभाव तथा अनुकरण से उनके बालक अनायास ही वद्य और निर्मल होते चले जाते हैं। यह आत्मगीत प्रत्येक माता और प्रत्येक पिता की आत्मध्वनि बन जानी चाहिये—

इदं आपः प्र वहत,
अवद्यं च मलं च यत् ॥
इसे बहा लेजाओ आपः,
जो अवद्य है और जो मल है ॥

जो माता पिता निर्मल होते हैं, वे कुवाच्य नहीं बोलते हैं, कुकर्म नहीं करते हैं। उनके बालकों के संस्कार इतने विशुद्ध होते हैं कि वे जीवन-भर न कुवाच्य बोलते हैं, न कुकर्म करते हैं।

२) मैंने (यत् च अभि-दुद्रोह) जो अभिद्रोह किया, मुझमें जो (अनृतं) अनृत है, मैं (यत् च अभीरुणं शेपे) जो अभीरु को कोसता/कोसती हूं—(आपः) आत्मप्रेरणाओ! पश्चात्ताप के अश्रुओ! (मा) मुझे (तस्मात् एनसः) उस पाप से [मुञ्चत्] मुक्त करो, (च पवमानः मुञ्चतु) और परम पावन प्रभु मुक्त करे।

मार पीट, झगड़ा टंटा, करना अभिद्रोह कहलाता है। जिस माता और जिस पिता का स्वभाव उत्तेजित तथा उग्र होता है, वे ज़रा ज़रा सी बात पर सबसे अभिद्रोह करते हैं, विरोध और शत्रुता करते हैं। उनकी अभिद्रोह-वृत्ति के प्रभाव से उनके बालकों का भी वैसा ही अभिद्रोहात्मक स्वभाव बन जाता है।

ऋत का अर्थ है ठीक, सही, युक्त। अनृत का अर्थ है अयुक्त। माता पिता का अयुक्त व्यवहार देखकर बच्चे भी अयुक्त व्यवहार करने लगते हैं।

अभीरुणं=अ+भीरु-नम्। अ का अर्थ है नहीं। भीरु का अर्थ है डरपोक। अभीरु का अर्थ है निडर, निर्भय। भीरु को सताना और अभीरु को कोसना—यह कापुरुषों का स्वभाव होता है। जो डरता है, उसे लोग प्रायः पीटने लग जाते हैं। जो निर्भय होता है, लोग न उसपर हाथ उठाते हैं, न उसके सामने बोल पाते हैं, परन्तु पींठ-पीछे उसे कोसते हैं। जिन माता पिता में यह कुटेव होती है, उनके बच्चे भी वैसा करना सीख जाते हैं।

प्रत्येक माता पिता को आत्मनिरीक्षण द्वारा अपने उपर्युक्त दोषों पर पश्चात्ताप के अश्रु बहाने चाहियें और अपनी आत्मप्रेरणाओं के प्रबल प्रताप से उपर्युक्त तीनों दोषों से अपने आपको सर्वथा मुक्त करना चाहिये। साथ ही आत्म-संवेदना के साथ

इन दोषों से मुक्त होने के लिये परम पावन प्रभु से प्रार्थना भी करनी चाहिये।

आत्मप्रेरणा तथा प्रार्थना के संयोग में अद्भुत चमत्कार है। आत्मप्रेरणा के बिना प्रार्थना निरर्थक है तो प्रार्थना के बिना आत्म-प्रेरणा नितान्त निर्बल है। दोनों के सहचार से कठिन से कठिन साधना भी अतिशय सरल होजाती है।

इसे बहा लेजाओ आपः,
जो अवद्य है और जो मल है।
मैंने जो अभिद्रोह किया है,
जो अयुक्त व्यवहार है मुझमें,
मैं जो कोसता और कोसती हूं अभीरु को,
आत्मप्रेरणाओ ! तुम मुझको,
मुक्त करो उस निपट पाप से,
मुक्त करे पवमान भी उससे ॥

सं ते मनो मनसा सं प्राणः प्राणेन गच्छताम्।
रेडस्यग्निष्ट्वा श्रीणात्वापस्त्वा समरिणन्वातस्य
त्वा ध्राज्यै पूष्णो रंह्या ऊष्मणो व्यथिषत्प्रयुतं द्वेषः ॥ (य० ६/१८)

सं ते मनः मनसा सं प्राणः प्राणेन गच्छताम्।
रेट् असि अग्निः त्वा श्रीणातु आपः त्वा सं-अरिणन्
वातस्य त्वा ध्राज्यै पूष्णः रंह्यै ऊष्मणः व्यथिषत्
प्र-युतं द्वेषः ॥

नवें वर्ष से विद्यासमाप्ति तक तीसरा आचार्य है पाठशाला, विद्यालय अथवा गुरुकुल का आचार्य। आचारात् आचार्यः। आचार्य अथवा आचार्या नाम आदर्श आचार से युक्त आदर्श व्यक्तित्व का है। आचार्य पद को सुशोभित करने के लिये केवल विद्वान् होना ही पर्याप्त नहीं है। आचार्य को आदर्श आचार से युक्त भी होना चाहिये। निर्विकार चिन्तन, निर्दोष स्वभाव और निष्पाप जीवन—ये तीन आचार के अपृथक्य अङ्ग हैं। जिसका चिन्तन निर्विकार नहीं है, स्वभाव निर्दोष नहीं है, जीवन निष्पाप नहीं है, उसे कदापि शिक्षा-विभाग में प्रविष्ट न होने देना चाहिये।

आचार्य का कार्य केवल अध्यापन और शिक्षण ही नहीं है, विद्यार्थियों को आचारवान् बनाना भी है। इसीलिये तो आचार्य को अग्नि की संज्ञा दी गयी थी। यह जो कहा गया था, "अग्निराचार्यस्तव" "तेरा आचार्य अग्नि है", इसमें यही रहस्य अन्तर्निहित था। अग्नि प्रज्वलक और प्रकाशक ही नहीं है, पावक [पवित्रकर्ता] भी है। विद्यार्थियों के जीवनों में प्रसुप्त आत्माग्नि को प्रज्वलित करके आचार्य उन्हें सर्वतः पवित्र और प्रकाशित करता है, उन्हें निर्मल और ज्योतिष्मान् बनाता है। वह उनके मस्तिष्कों को परिष्कृत, उनके हृदयों को प्रकाशित और उनके आत्माओं को प्रज्वलित करता है। वह उनके विचारों को पवित्र, उनकी भावनाओं को विशुद्ध और उनके आत्माओं को प्रबुद्ध करता है।

अपने बालक को आचार्य के या अपनी बालिका को आचार्या के सुपुर्द करते हुए माता कहती है, पिता कहता है—

१) हे बालक ! हे बालिके ! (ते मनः) तेरा मन [आचार्य/आचार्या के] (मनसा) मन के साथ (सं-गच्छताम्) संगमन करे, (ते प्राणः) तेरा जीवन [आचार्य/आचार्या के] (प्राणेन) जीवन के साथ (सं-गच्छताम्) संगमन करे।

आचार्य और ब्रह्मचारी [विद्यार्थी] अथवा आचार्या और ब्रह्मचारिणी [विद्यार्थिनी]—दोनों के मन और जीवन सदा सर्वदा संगत रहने चाहियें,

ताकि आचार्य या आचार्या के सुपावन आदर्श आचार को ब्रह्मचारी या ब्रह्मचारिणी सहज स्वाभाविक रीति से अपने जीवन में संग्रहण तथा समंकित कर सकें। ब्रह्मचारी का मन आचार्य के मन से मिला रहना चाहिये। आचार्य तथा ब्रह्मचारी के मनों में अभिन्नता तथा अनन्यता होनी चाहिये और साथ ही दोनों में एक दूसरे के प्रति प्राणप्रियता भी। जहां दोनों के मनों और जीवनों में संगमन नहीं होता है, वहां न परिवार के लिये आदर्श माता पिता बन पाते हैं न समाज के लिये आदर्श सभ्य सभ्या, वहां न राष्ट्र के लिये आदर्श नागरिक बन पाते हैं न विश्व के लिये सुरत्न सुरत्ना।

"प्यारे बच्चे ! पितृकुल या मातृकुल में निवास करते हुए अब तक तेरा मन और जीवन हमारे मन और जीवन के साथ संगमन करता रहा है। अब गुरुकुल में निवास करते हुए तेरा मन और जीवन तेरे आचार्य के मन और जीवन के साथ संगमन करता रहे", बालक को माता पिता की यह वैदिक प्रेरणा कितनी महत्त्वपूर्ण है, यह गहन मनन और चिन्तन का विषय है।

२) तू (रेट् असि) परिभाषी है, प्रियभाषी है।

प्रत्येक बालक स्वभाव से परिभाषी और प्रियभाषी होता है। वह जो भी अज्ञात नयी वस्तु देखता है, उसी के विषय में बातचीतों की झड़ी लगा देता है। उसके जिज्ञासापूर्ण भोले भाले प्रश्न और उसकी प्यारी प्यारी बातें बड़ी सुहावनी तथा मनोभावनी लगती हैं।

अपने जिगर के टुकड़े को अलग करते हुए माता पिता को उसकी प्यारी प्यारी मन-बहलानेवाली बातें याद आरही हैं और उससे बिछुड़ते हुए वे कहने लगते हैं—"प्यारे बच्चे ! तू परिभाषी है, प्रियभाषी है। जिस प्रकार तू हमारे साथ परिभाषण और प्रियभाषण करके हमारा मन प्रसन्न किया करता था, उसी प्रकार तू अब अपने आचार्यों के मन को प्रफुल्लित किया करेगा। वे भी तो तेरे पिता माता ही हैं। जिस प्रकार तू पितृकुल में किलोल किया करता था, उसी प्रकार अब इस गुरुकुल में किया करना"।

३) बालक का मन कच्चा होजाता है, उसका जी भर आता है। माता पिता कहते हैं—(अग्निः त्वा श्रीणातु) अग्नि तुझे पकाये, (त्वा वातस्य ध्राज्यै रंह्यै) तुझे वात की गति प्रगति के लिये (पूष्णः ऊष्मणः) पूषा की ऊष्मा से (व्यथिषत्) व्यथे, तपाये, (द्वेषः प्र-युतं) द्वेष से पृथक् करे, द्वेष से दूर रखे।

अग्नि शब्द का प्रयोग मन्त्र में आचार्य के लिये हुआ है। अग्नि [आचार्य] जहां प्रकाशक और पावक होता है, वहां उसे पाचक अथवा पकाने और परिपक्व करनेवाला भी होना चाहिये।

श्रीञ् पाके। श्री धातु का अर्थ है पकाना, परिपक्व करना।

प्रेम ही वह पूषा है, जिसकी ऊष्मा से प्रताड़ित होकर बालक सतर्क और सावधान बनता है।

व्यथ भयसंचलनयोः। भय से संचलन अथवा सतर्कता की उत्पत्ति होती है। भय [प्रताड़ना] और संचलन [सतर्कता] सदा सर्वत्र साथ साथ रहते हैं।

आज बच्चे का मन भी कच्चा है, जीवन भी कच्चा है। आचार्य उसके मन को पकायेगा और उसके जीवन का परिपाक करेगा।

बालक के जीवन में वात की सी गति प्रगति प्रस्थापन करने के लिये प्रेमपूरित प्रताड़ना की ऊष्मा से आचार्य उसे सतर्क और सावधान बनायेगा। आचार्य का अन्तःकरण जितना कोमल होना चाहिये, उसका बाह्यकरण उतना ही अनुशासक तथा प्रभावशाली होना चाहिये। उग्र तप, घोर परिश्रम और कठोर अनुशासन के सुसंस्कार बालकों के जीवनों में समंकित किये जाने ही चाहियें। यह

तभी सम्भव होगा, जब आचार्य व्यथन के महत्त्व को समझकर उसका यथावत् उपयोग करेगा।

आचार्य बालकों के स्वभाव और संस्कार में उस उदार शील का संचार करें कि वे परस्पर प्रेमपूर्वक वर्तें और कभी कदापि किसी से द्वेष न करें।

"आचार्याग्नि तुझे पकाये, वात की गति प्रगति के लिये प्रेम की गर्मी से तुझे व्यथे और तुझसे द्वेष को दूर रखे," माता पिता ने अपने बालक को इन वचनों से सान्त्वना देकर आचार्य के पुनीत कर्तव्यों का प्रकाशन किया है।

४) बालक उदास होगया है और माता पिता उसकी उदासी दूर करने के लिये कहते हैं—प्यारे बच्चे! आचार्य की (आपः) आत्मप्रेरणायें, प्रेमप्रीतियां (त्वा सं-अरिणन्) तुझे प्र-प्रेरित करें, तुझे सम्यक् प्रीतिमान करें।

आचार्य बालक के प्रति ऐसा प्रीतिमान रहे और गुरुकुल के वातावरण को ऐसा रोचक, प्रेरणाप्रद, तरंगमय, स्नेहपूर्ण बनाये कि नवागन्तुक बालक वहां ऐसा रम जाये और आचार्य के प्रति ऐसा प्रीतिमान होजाये कि न उसे माता पिता का वियोग सताये, न उसे अपने घर की याद आये।

संगमन करे मन तेरा मन के साथ,
संगमन करे तेरा प्राण प्राण के साथ।
रेद् है तू आचार्याग्नि तुझे पकाये,
तुझे वात की गति और प्रगति के लिये,
पुष्ट प्रेम की तप्त ऊष्मा तुझे तपाये।
अरिणन करते रहें निरन्तर आपः तुझको॥

सूक्ति—सं प्राणः प्राणेन गच्छताम्।
जीवन जीवन के साथ संगमन करे॥
अग्निष्ट्वा श्रीणातु।
अग्नि तुझे पकाये,
आचार्य तुझे परिपक्व करे॥
आपस्त्वा समरिणन्।
आत्मप्रेरणायें तुझे प्रप्रेरित करें॥

घृतं घृतपावानः पिबत वसां वसापावानः पिबतान्तरिक्षस्य हविरसि स्वाहा। दिशः प्रदिश आदिशो विदिश उद्दिशो दिग्भ्यः स्वाहा॥ (य० ६/१९)

घृतं घृत-पावानः पिबत वसां वसा-पावानः पिबत अन्तरिक्षस्य हविः असि स्वाहा। दिशः प्र-दिशः आ-दिशः वि-दिशः उत्-दिशः दिक्-भ्यः स्वाहा॥

आचार्य अपने ब्रह्मचारियों [विद्यार्थियों] से कह रहा है—

१) (घृत-पावानः) घृत पान करनेवालो! (घृतं पिबत) घृत पान करो, (वसा-पावानः) वसा पान करनेवालो! (वसां पिबत) वसा पान करो।

घृत शब्द का प्रयोग यहां उपलक्षण से घी, दूध, दही, तक्र आदि पेयों के लिये हुआ है और वसा शब्द का सुवासयुक्त खाद्यों के लिये। वेदों में वसा शब्द का प्रयोग सर्वत्र इसी अर्थ में हुआ है।

पा पाने। पा धातु का अर्थ पान करना अथवा पीना ही नहीं है, सेवन करना भी है। केवल पेय ही पान नहीं किया जाता है, खाद्य भी पान किया जाता है। ठोस खाद्य पदार्थ के एक एक ग्रास को बारीक चबाकर प्रथम मुख में रसरूप किया जाता है और फिर उसे पान किया जाता है।

सुपान और सुखान विद्यार्थियों की सर्वप्रथम आवश्यकता है। प्रचुर मात्रा में उत्तमोत्तम सुपेयों और सुखाद्यों से आपूर भरपूर गुरुकुल ही वास्तविक

कुल है। निस्सन्देह आचार्यों और ब्रह्मचारियों को मिताहारी होना चाहिये, किन्तु गुरुकुलों में पेय तथा खाद्य पदार्थों की कमी न रहनी चाहिये। आचार्यों तथा ब्रह्मचारियों की आवश्यकतायें निश्चय ही न्यूनतम होनी चाहियें, किन्तु रोगनिवारक स्वास्थ्यप्रद पौष्टिक सात्त्विक भोजन अवश्य ही उनकी प्रथम अनिवार्य आवश्यकता मानी जानी चाहिये, क्योंकि शरीर-सम्पदा और जीवन-सत्त्व की उपलब्धि एकमात्र स्वादिष्ठ और सत्त्वमय भोजन से ही होती है। विशेषतः नवीन प्रविष्टों के लिये तो मुख्य आकर्षण सुपेय और सुखाद्य ही हैं। बच्चे जहां भी जाते हैं, वहीं वे खाने पीने की अच्छी अच्छी वस्तुओं से आकर्षित होते हैं। बाल-मनोविज्ञान का यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि बालक प्रायः उनसे सहजतया हिल जाते हैं, जो उन्हें अच्छे अच्छे पदार्थ खिलाते पिलाते हैं। "घृतं घृतपावानः पिबत, वसां वसापावानः पिबत", नवप्रविष्ट बच्चों के प्रति आचार्य के मुख से यह कहलवाकर इसी रहस्य का उद्घाटन किया गया है।

२) गुरुकुल में प्रविष्ट होनेवाले प्रत्येक नये छात्र को प्यार करते हुए आचार्य कहता है—तू (अन्तरिक्षस्य हविः असि) तू अन्तरिक्ष की हवि है, (स्वाहा) सुहुत हो।

अन्तरिक्ष का प्रयोग यहां अन्तःकरण अथवा हृदय के लिये हुआ है। हवि नाम उस शुद्ध सुगन्धित हवनसामग्री का है, यज्ञवेदि के प्रज्वलित अन्तःकरण में जिसकी आहुति दी जाती है। हुत आहुति यज्ञाग्नि में सुहुत होकर सर्वत्र व्यापती है और सारे वातावरण को सुवासित कर देती है।

आचार्य कहरहा है—प्रिय शिष्य ! तू मेरे हृदय की हवि है, वह शुद्ध सुगन्धित हवि, जो मेरे हृदय में सुहुत हुई है और पुष्ट प्रेमाग्नि की ऊष्मा से तृप्त होकर जो एक दिन मानव-मण्डल को सुवासित करेगी। शिष्यरूपी यह हवि मुझमें सुहुत होवे।

आहुति देते हुए जो हवि यज्ञवेदि के बाहर गिर जाती है, वह अहुत या कुहुत हवि है। आहुति देते हुए जो हवि यज्ञवेदि के हृदय के भीतर प्रविष्ट हो जाती है, वह सुहुत हवि है, उसीसे यज्ञ सिद्ध सार्थक होता है और उसीसे वातावरण सुवासित होता है।

जो शिष्य या ब्रह्मचारी अन्तेवासी [आचार्य के हृदय में निवास करनेवाला] बन जाता है, वह आचार्य के अन्तरिक्ष की सुहुत हवि है और वह ही सिद्ध सार्थक होकर, सर्वतः समुन्नत होकर, व्यापती है।

३) नवप्रविष्ट ब्रह्मचारी को उत्प्रेरित करते हुए आचार्य शुभ कामना करता है—ब्रह्मचारिन् ! ये (दिशः प्र-दिशः आ-दिशः वि-दिशः उत्-दिशः) दिशायें, प्रदिशायें, आदिशायें, विदिशायें, उद्दिशायें हैं, तू इन सब (दिक्-भ्यः) दिशाओं के लिये (स्वाहा) सुहुत हो।

पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण—ये चार दिशायें हैं। आग्नेयी, नैर्ऋति, वायवी, ऐशानी—ये चार प्रदिशायें हैं। दिशाओं और प्रदिशाओं के अतिशय निकटवर्ती देश आदिशायें हैं, दूरवर्ती देश विदिशायें हैं, ऊर्ध्ववर्ती देश उद्दिशायें हैं।

आचार्य ने कामना की है—जिस प्रकार यज्ञाग्नि में सुहुत हवि की छोटी छोटी आहुतियां दिशाओं, प्रदिशाओं, आदिशाओं, विदिशाओं तथा उद्दिशाओं में सुगन्धि की व्याप्ति करती हैं, उसी प्रकार, मेरे प्रिय शिष्य, तू विकसित और समुन्नत होकर सब दिशाओं के लिये सुहुत होवे, सब दिशाओं में तेरी जीवनहवि से तेरी सुगन्धि व्यापे।

कितनी गहन और सुन्दर अभिव्यक्ति है यहां इस मन्त्र में आचार्य और ब्रह्मचारी के, गुरु और शिष्य के, अध्यापक और विद्यार्थी के, पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में।

घृतपानियो ! पान करो घृत,
वसापानियो ! वसा सुसेवो।
मेरे हृदय की हवि है तू,
होवे तू हुत सु-हुत मुझमें।
ये दिशायें प्रदिशायें आदिशायें,
विदिशायें और उद्दिशायें,
सब दिशाओं के लिये तू,
मुझमें हुत हो और सुहुत हो ॥
सूक्ति—घृतं घृतपावानः पिबत।
घृतपानियो ! पान करो घृत ॥
अन्तरिक्षस्य हविरसि।
तू हृदय की हवि है ॥

ऐन्द्रः प्राणो अङ्गे अङ्गे नि दीध्यदैन्द्र उदानो अङ्गे अङ्गे निधीतः। देव त्वष्टर्भूरि ते सं समेतु सलक्ष्मा यद्विषुरूपं भवाति। देवत्रा यन्तमवसे सखायोऽनु त्वा माता पितरो मदन्तु ॥ (य० ६/२०)

ऐन्द्रः प्राणः अङ्गे अङ्गे नि-दीध्यत् ऐन्द्रः उदानः अङ्गे अङ्गे निधीतः। देव त्वष्टः भूरि ते सं सं-एतु सलक्ष्म यत् वि-सु-रूपं भवाति। देवत्रा यन्तं अवसे सखायः अनु त्वा माता पितरः मदन्तु ॥

अपने बालक को आचार्य-कुल में प्रविष्ट कराकर वहां से विदा होते हुए प्रथम अपने बालक को शुभकामनापूर्ण आशीर्वाद देते हैं—ब्रह्मचारिन् ! तेरे (अङ्गे अङ्गे ऐन्द्रः प्राणः नि-दीध्यत्) अंग अंग में ऐन्द्र प्राण प्रकाशे। तेरे (अङ्गे अङ्गे ऐन्द्रः उदानः नि-धीतः) अंग अंग में ऐन्द्र उदान नि-हित होवे।

इन्द्र से ऐन्द्र। इन्द्र नाम इन्द्रियों के स्वामी आत्मा का है। ऐन्द्र का अर्थ है आत्मा से सम्बन्धित, आत्मिक। प्राण प्रतीक है प्र-आन का, प्र-जीवन का, संजीवन का, और उदान प्रतीक है उत्-आन का, उत्थान का, समुत्थान का, उज्जीवन का, संविकास का।

"तेरे अंग अंग में आत्मिक जीवन जगमगाये और तेरे अंग अंग में आत्मिक संविकास संनिहित हो", माता पिता के इन आशीर्वचनों में शिक्षा-विज्ञान का एक सत्य सिद्धान्त अन्तर्निहित है। शिक्षा एक बड़ा ही व्यापक शब्द है। केवल साक्षरता न शिक्षा का अंग है, न शिक्षा का लक्ष्य है। साक्षरता तो शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण साधन है। साक्षरता लक्ष्य नहीं है, साधन है। शिक्षा साधन नहीं है, लक्ष्य है। शिक्षा नाम है आत्मिक संजीवन के प्रकाशन का तथा आत्मिक संविकास की प्रस्थापना का। आचार्य का कर्तव्य केवल साक्षर बनाना ही नहीं है, ब्रह्मचारियों [विद्यार्थियों] के जीवनों में आत्मिक संजीवन का संचार तथा आत्मिक संविकास का सुसंस्करण भी है। आत्मिक संजीवन तथा आत्मिक संविकास से शून्य साक्षर ज्ञान मनुष्य को हृदयहीन विलासी असुर बनाता है। वह तो आत्म-संजीवन तथा आत्म-संविकास से युक्त शिक्षा ही है, जो मानव को दैवी सम्पदा से सम्पन्न करके उसे दिव्य देव बनाती है।

अब आचार्य के प्रति अपनी आत्मश्रद्धा तथा आस्था व्यक्त करते हुए बालक के माता पिता कहते हैं—(देव त्वष्टः) ! यह बालक (सलक्ष्म) स-आदर्श (ते) तेरे प्रति (भूरि सं) बहुत सम्यक्तया (सं-एतु) सं-आये, सं-आगमन करे, समाये, समाकृष्ट रहे,

(यत्) यतः, ताकि [यह] (वि-सु-रूपं भवाति) वि-सु-रूप होजाये।

आचार्य को यहां देव त्वष्टा, दिव्य तक्षक, दिव्य निर्माता कहा गया है। दिव्यताओं से जो युक्त हो, उसे देव कहते हैं। त्वष्टा शब्द का जन्म तक्षू त्वक्षू तनूकरणे धातु से हुआ है। तक्षू अथवा त्वक्षू धातु का अर्थ है सूक्ष्म करना, तराशना, छील तराश कर सुन्दर वस्तु का निर्माण करना। इस निरुक्ति के अनुसार त्वष्टा का अर्थ है सुनिर्माता, सुसंसृजक, कुशल कारीगर। परमात्मा त्वष्टा है, यह सृष्टि जिसकी कुशल कारीगरी है। काष्ठकार त्वष्टा है, जो कुशलता के साथ लकड़ियों की सुन्दर सुन्दर वस्तुयें बनाता है। विश्वकर्मा त्वष्टा है, जो कुशलता के साथ मिट्टी के सुन्दर सुन्दर खिलौने बनाता है। स्वर्णकार त्वष्टा है, जो कुशलता के साथ सोने के सुन्दर आभूषण बनाता है। आचार्य त्वष्टा है, जिसे कुशलता के साथ अपने ब्रह्मचारियों के जीवनों का सुष्ठु निर्माण करना है। आज के इन विद्यार्थियों को उसे कल के वे आदर्श और कुशल नागरिक बनाना है, जो अपने परिवार, समाज, राष्ट्र और संसार के लिये वरदान सिद्ध हों।

आचार्य देव त्वष्टा हो, वह देव त्वष्टा, विद्यार्थी स-आदर्श जिसके प्रति भूरि सम्यक्ता के साथ समाये रहें, समाकृष्ट रहें। आचार्य केवल बहुश्रुत और विद्वान् ही न हो, सम्पूर्ण मानवी आदर्शों का आदर्शपुञ्ज भी हो। आचार्य केवल दर्श [दार्शनिक] ही न हो, समस्त दर्शनों का साक्षात् आदर्श भी हो। आचार्य केवल सुवक्ता और सुव्यवस्थापक ही न हो, जीवन के प्रत्येक पार्श्व में प्रत्यक्ष आदर्श भी हो। आचार्य हो सम्पूर्ण सुष्ठुताओं और आचारों का जीता जागता जगमगाता हुआ आदर्श-कोश।

इस सबकी अभिव्यक्ति के लिये ही माता पिता के मुख से आचार्य के प्रति कहलाया गया है—देव त्वष्टः! तेरा यह ब्रह्मचारी, तेरा यह विद्यार्थी, सादर्श सदा सर्वदा सर्वतः सर्वथा तेरे प्रति समाया रहे, सम्पूर्णतया आकृष्ट रहे।

ऐसे आचार्य के प्रति आकृष्ट और संगत होकर ही विद्यार्थी वि-सु-रूप बनते हैं। वि=विविध, विशेष। सु=सुष्ठु, सुन्दर। रूप=स्वरूप। जीवन के विविध सभी पार्श्वों में जो विशिष्ट, सुष्ठु, सुन्दर रूप से समलंकृत हो, उसे विषुरूप कहते हैं। आदर्श आचार्य के साकर्ष अनुकरण तथा संगतिकरण से विद्यार्थी बुद्धि, मेधा, मन, चित्त, आत्मा तथा शरीर से सम्यक्तया सम्पन्न होकर सर्वतोमुखी उन्नति करते हैं।

"दिव्यताओं से युक्त कुशल आचार्यप्रवर! यह ब्रह्मचारी सादर्श तेरे प्रति समाकृष्ट संगत रहे, ताकि यह विषुरूप होजाये", बालक के माता पिता के मुख से आचार्य के प्रति यह वाक्य कहलवाकर वेदमाता ने शिक्षासम्बन्धी एक अमूल्य सिद्धान्त का उद्घाटन किया है।

विदा होते होते माता पिता अन्त में पुनः अपने बालक को दुलारते हुए कहते हैं—प्यारे बच्चे! (अवसे) अवार्थ (देवत्रा यन्तं त्वा) दिव्यताओं में गमन करते हुए तुझे (सखायः माता पितरः) सखा, माता और पितर (अनुमदन्तु) अनुहर्षित करें।

अव का अर्थ है संरक्षण, प्रगति, कान्ति और बोध।

दिव्यताओं में गमन करना एक प्रसिद्ध वैदिक ईडियम है, जिसका आशय है दिव्यताओं अथवा दिव्य वातावरणों में विचरना।

सखायः से तात्पर्य है यहां सहपाठी सखाओं से, सहाध्यायी मित्रों से।

माता से तात्पर्य है यहां आचार्य-पत्नी से। आचार्य न केवल सपत्नी अपि तु ससन्तान भी होना चाहिये। समान गुण कर्म स्वभाव वाली भार्या से

युक्त होकर जहां आचार्य पूर्ण पुरुष बनता है, वहां सन्तानवान् होकर वह पिता बनता है। पत्नीविहीन आचार्य के जहां पतन की सम्भावना रहती है, वहां सन्तानविहीन होने से उसके निष्ठुर होने की सम्भावना होती है। विद्यार्थियों को जहां आचार्य के रूप में एक प्रेमागार सूपायन पिता प्राप्त हो, वहां आचार्याणी के रूप में उन्हें एक स्नेहसुलभा सूपायना माता भी सुलभ होनी चाहिये।

पितरः शब्द पिता का बहुवचन है। आचार्य के आधीन पढ़ानेवाले समस्त अध्यापक हैं विद्यार्थियों के पिता। पितरः शब्द से यह स्पष्ट ध्वनित होरहा है कि अध्यापक सन्तानवान् होने चाहियें। निस्सन्तान अध्यापक प्रत्यक्षतः विद्यार्थियों के प्रति पितृभावना से भावित नहीं रह सकते।

यहां पुनः शिक्षाक्षेत्र के एक सुघड़ सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। गुरुकुल अथवा विद्यालय के वातावरण में दिव्यताओं का, दिव्य संस्पर्शों तथा सम्पर्कों का, दिव्य भावों और प्रभावों का, सुसंस्कार होना चाहिये। जहां गुरुकुल अथवा विद्यालय के दिव्य वातावरणों में आचार्य का पितृसंरक्षण तथा आचार्याणी का मातृसंरक्षण सम्प्राप्त होता है, वहां ही बालक प्रगति के पथ पर आरूढ़ रहते हुए कान्ति और बोध से सम्पन्न होते हैं और आचार्य आचार्याणी के उसी कुल में विद्यार्थियों का सखा-समूह परस्पर एक दूसरे को अनुहर्षित करता है, वहां ही अध्यापक गण अपने पुत्रतुल्य विद्यार्थियों को अनुहर्षित करते हैं, वहां ही विद्यार्थियों के माता पिता अपने पुत्रों और पुत्रियों के कुशलक्षेम के विषय में निश्चिन्त रहते हैं। अपने पुत्र को आचार्य के सुपुर्द करके अपने गृह को लौटते हुए माता पिता ने अपने बालक से जो यह कहा है, "प्रियवर ! संरक्षण, प्रगति, कान्ति और बोध के लिये दिव्यताओं में गमन करते हुए तुझे सखा, माता और पितर अनुहर्षित करें", उसमें उपर्युक्त संज्ञान संनिहित है।

अंग अंग में ऐन्द्र प्राण प्रकाशे,
अंग अंग में ऐन्द्र उदान निहित हो।
त्वष्टः देव ! सलक्ष्म तेरे प्रति,
भूरि समागम करे यह बालक,
होजाये विषुरूप ताकि वह।
अवार्थ विचरते हुए दिव्य वातावरणों में,
तुझे सतत अनुहर्षे पितर सखा और माता॥

समुद्रं गच्छ स्वाहान्तरिक्षं गच्छ स्वाहा देवं सवितारं गच्छ स्वाहा मित्रावरुणौ गच्छ स्वाहाहोरात्रे गच्छ स्वाहा छन्दांसि गच्छ स्वाहा द्यावापृथिवी गच्छ स्वाहा यज्ञं गच्छ स्वाहा सोमं गच्छ स्वाहा दिव्यं नभो गच्छ स्वाहाग्निं वैश्वानरं गच्छ स्वाहा मनो मे हार्दि यच्छ दिवं ते धूमो गच्छतु स्वर्ज्योतिः पृथिवीं भस्मनापृण स्वाहा॥　　(य० ६/२१)

समुद्रं गच्छ स्वाहा अन्तरिक्षं गच्छ स्वाहा देवं सवितारं गच्छ स्वाहा मित्रवरुणौ गच्छ स्वाहा अहोरात्रे गच्छ स्वाहा छन्दांसि गच्छ स्वाहा द्यावापृथिवी गच्छ स्वाहा यज्ञं गच्छ स्वाहा सोमं गच्छ स्वाहा दिव्यं नभः गच्छ स्वाहा अग्निं वैश्वानरं गच्छ स्वाहा मनः मे हार्दि यच्छ दिवं ते धूमः गच्छतु स्वः ज्योतिः पृथिवीं भस्मना आ-पृण स्वाहा॥

इस मन्त्र में स्वाहा शब्द का प्रयोग सर्वत्र आत्मसाधना के अर्थ में हुआ है। स्वाहा=स्व+आ+हा। स्व=आत्मा। आ=पूर्ण। हा=त्याग। स्वाहा=पूर्ण आत्मत्याग, पूर्ण आत्मोत्सर्ग, उत्कट आत्मसाधना। किसी भी शुभ साध के लिये उत्कट साधना का महत्त्व प्रत्यक्ष है।

माता पिता अपने बालक को आचार्य के कुल में छोड़कर चले गये हैं। तदुपरान्त बालक को दीक्षित करते हुए आचार्य उत्प्रेरणा करता है—

१) (स्वाहा) उत्कट आत्मसाधना द्वारा (समुद्रं गच्छ) समुद्र को जा, समुद्रत्व को प्राप्त कर।

विद्यार्थी को उत्प्रेरित करता हुआ आचार्य कह रहा है—समुद्रत्व को प्राप्त कर, समुद्र के समान गहन और गम्भीर बन, समुद्र के समान सं-उत्-द्रवण कर, समुद्र के समान ऊर्मित [तरंगित] रह, समुद्रवत् आत्मप्रेरित रह।

गहनता, गम्भीरता तथा उत्प्रेरण—समुद्रत्व के ये तीन अङ्ग हैं। वह आचार्य आचार्य नहीं, वह शिक्षक शिक्षक नहीं, वह अध्यापक अध्यापक नहीं, जो स्वयं गहन, गम्भीर और उत्प्रेरित न हो और जो अपने विद्यार्थियों को गहन, गम्भीर और उत्प्रेरणा-मय न बनाये। जो आचार्य स्वयं समुद्र नहीं है, वह अपने विद्यार्थियों में समुद्रत्व की स्थापना नहीं कर सकता है।

समुद्रं गच्छ, इस उत्प्रेरणा में एक और भी उदात्त प्रेरणा संनिहित है। आचार्य कह रहा है—प्राणप्रिय शिष्य! विद्या और बोध का समुद्र बन, सागर बन, महासागर बन। आचार्य विद्या और बोध का महा सागर होगा, तो ही वह अपने शिष्यों को विद्या और बोध का महासागर बना सकेगा।

"समुद्र बन, सागर बन, महा सागर बन। कूप न बन, कूपमण्डूक न बन, पोखर न बन, गागर न बन", यह है शिक्षाक्षेत्र का वह उद्घोष, जिससे यह सारी मही गूंजती रहनी चाहिये।

२) (स्वाहा) उत्कट आत्मसाधना द्वारा (अन्तरिक्षं गच्छ) अन्तरिक्ष को जा, अन्तरिक्षत्व को प्राप्त कर।

यस्मिन्नन्तरीक्षन्ते तदन्तरिक्षम्। जिसके अन्दर दर्शन करते हैं, वह अन्तरिक्ष है। अन्तःकरण ही है वह अन्तरिक्ष, जिसमें आत्मदर्शन होता है, ब्रह्मदर्शन होता है। अन्तर्मुख होना ही अन्तरिक्ष-गमन अथवा अन्तरिक्ष को प्राप्त होना है।

अन्तरिक्ष-गमन से ही समुद्र-गमन होता है। समुद्र के समान गहन, गम्भीर तथा ऊर्मिमय होने के लिये आत्मसाधना द्वारा अन्तर्मुख होने की परमावश्यकता है। वहिर्मुखता से क्षुद्रत्व की प्राप्ति होती है, अन्तर्मुखता से समुद्रत्व की। प्रथम कहा गया—समुद्रं गच्छ, तत्पश्चात् कहा गया—अन्तरिक्षं गच्छ, इसमें जो अनुक्रम निहित है, शिक्षाक्षेत्र के इस रहस्य में शिक्षक तथा शिक्षार्थी दोनों के लिये एक दिव्य सन्देश संनिहित है।

३) (स्वाहा देवं सवितारं गच्छ) उत्कट आत्म-साधना द्वारा देव सविता को प्राप्त कर।

दिव्यताओं से युक्त होने के कारण परमात्मा देव है। अखिल ब्रह्माण्ड का रचयिता तथा प्रेरक होने से परमात्मा देव सविता है। शरीर में आत्मा देव सविता है।

अन्तर्मुख होकर जब उत्कट आत्म-साधना की जाती है, तब ही अन्तरिक्ष [अन्तःकरण] में देव सविता की प्राप्ति अथवा साक्षात्कृति होती है। अन्तरिक्षं गच्छ कहने के पश्चात् देवं सवितारं गच्छ कहकर फिर शिक्षा-क्षेत्र के एक गूढ़ रहस्य का उद्घाटन किया गया है। शिक्षा का लक्ष्य जहां विद्यार्थियों को गहन, गम्भीर और ऊर्मिमय बनाना है, वहां उन्हें अन्तस्साधना द्वारा आत्मदर्शन तथा ब्रह्म-साक्षात्कार कराना भी है।

४) (स्वाहा मित्रावरुणौ गच्छ) उत्कट साधना द्वारा मित्र और वरुण को प्राप्त कर।

मित्र नाम सूर्य का है और वरुण नाम चन्द्रमा का। सूर्य तेजस्वी है, चन्द्रमा सोम्य है। सूर्य तेज का प्रतीक है तो चन्द्रमा सोम्यता का।

यहां शिक्षा के लक्ष्यों में से एक लक्ष्य बताया गया है शिक्षार्थी के जीवन में सूर्य और चन्द्रमा का, अथवा तेज और सोम्यता का, समन्वय। सोम्यता से विहीन तेज जितना अशोभनीय है, उतनी ही अशोभनीया है तेज से विहीन सोम्यता। तेज और सोम्यता के संयोग में ही जीवन के सौन्दर्य का संविकास है, निखार है, खिलाव है।

५) (स्वाहा अहोरात्रे गच्छ) उत्कट साधना द्वारा दिन और रात को जा।

सूर्य प्रकाश प्रदान करता है, चन्द्रमा ज्योति। प्रकाश प्रखर है, ज्योति प्रशान्त और शीतल है। प्रकाश अन्धकार का निराकरण करता है, ज्योति अन्धकार में प्रविष्ट होकर अंधेरे में उजाला करती है। सूर्य रात्रि को अपने से वियुक्त करके प्रकाशता है। चन्द्रमा रात्रि से युक्त रहकर रात्रि को ज्योतित करता है। सूर्य का सम्बन्ध दिन से है, चन्द्रमा का रात्रि से।

शिक्षा का सौन्दर्य है शिक्षित होकर सोम्यता के साथ स्वयं प्रकाशना और अन्यों को प्रकाशित करना। शिक्षा का लक्ष्य है व्यक्ति के व्यक्तित्व को दिन के समान प्रखर और चन्द्रिकामयी रात्रि के समान मनोरम बनाना।

६) (स्वाहा छन्दांसि गच्छ) उत्कट साधना द्वारा छन्दों को प्राप्त कर।

छन्दांसि वै वेदानां मन्त्राः। छन्दांसि वै वेदाः। छन्दांसि वै दिशः। चारों वेदों के मन्त्र छन्द हैं। छन्दोमय होने से वेद छन्द हैं। छन्द स्वच्छन्द होने से दिशायें छन्द हैं। छन्द नाम छन्दता, स्वच्छन्दता अथवा स्वतन्त्रता का भी है।

"चारों वेदों के छन्दों का सम्यक् अध्ययन कर, वेदों के मन्त्र मन्त्र में निहित विज्ञान का साक्षात्कार कर, वेदछन्दों में निहित वैदिक शिक्षाओं से साचार शिक्षित होकर स्वतन्त्रता के साथ सब दिशाओं में विचर", आचार्य के इस सम्बोधन में शिक्षार्थी के लिये जीवन की एक प्रदिशा का प्रदर्शन है, एक मिश्नरी भावना का संकेत है।

शिक्षा के लिये स्वतन्त्रता की और स्वतन्त्रता के लिये शिक्षा की अनिवार्य आवश्यकता है। शिक्षा का क्षेत्र विद्यालय की सीमाओं तक ही सीमित नहीं है, विशाल संसार की सारी दिशाओं से उसका सम्बन्ध है। शिक्षा-सम्पन्न होकर जब मनुष्य संसार की सब दिशाओं में विचरता है, वास्तव में तब ही शिक्षा की सम्पूर्ति होती है, किन्तु उसकी परिसमाप्ति तो कभी होती ही नहीं है।

७) (स्वाहा द्यावापृथिवी गच्छ) उत्कट साधना द्वारा द्यौ और पृथिवी को प्राप्त कर।

छन्दों से युक्त होकर, वैदिक आचार विचार और व्यवहार से समलंकृत होकर, तू द्यौलोक और पृथिवीलोक में कहीं भी विचर, द्यौलोक और पृथिवीलोक के बीच में कहीं भी निवास कर"।

शिक्षासम्पन्न उदार व्यक्ति के लिये सारा संसार ही उसकी अपनी मातृभूमि है और संसार में जहां कहीं भी वह निवास करे, वहीं उसका घर है। शिक्षा वह है, जो शिक्षार्थी को वसुधा–कुटुम्बी विश्वनागरिक बनाये। द्यौ और पृथिवी ही क्या, अखिल ब्रह्माण्ड एक सुशिक्षित व्यक्ति का उसका अपना निज ठाम है, निज धाम है। शिक्षा नाम संकोच का नहीं है, विकास का है।

८) (स्वाहा यज्ञं गच्छ) उत्कट साधना द्वारा यज्ञ को प्राप्त कर।

यज्ञ शब्द का प्रयोग यहां यज्ञीयता अथवा यज्ञीय जीवन के लिये हुआ है। वह शिक्षा शिक्षा नहीं है, जो जीवन को यज्ञीय न बनाये, जो जीवन को यज्ञीय सुरभि से सुरभित न करे। शिक्षा वही है, जो शिक्षार्थी के जीवन को ऐसा यज्ञीय बनाये कि उसकी सुगन्धित सुवास से सम्पूर्ण वातावरण महक जाये।

"द्यौ और पृथिवी के बीच में यज्ञीय बनकर महक और महका"।

९) (स्वाहा सोमं गच्छ) उत्कट साधना द्वारा सोम को प्राप्त कर।

वीर्यं वै सोमः। रसः सोमः। रेतो वै सोमः। शुक्रः सोमः। वर्चः सोमः। वीर्य अथवा रेत जीवन का परम रस है। इस परम रस से रसोपेत होकर मानव शुक्र [शुद्ध और सशक्त] बनता है। इस रस से रसोपेत होकर मानव वर्च और पराक्रम से युक्त होता है। इस रस से रसोपेत होकर मानव चन्द्रकान्ति से सम्पन्न होता है। रसाकर्षक, शुक्र और वर्चोपेत होने से ही चन्द्रमा सोम कहलाता है।

सोमं गच्छ कहकर आचार्य ने ब्रह्मचारी को वीर्योपेत, वीर्यवान्, शुक्र, शुद्ध और वर्चस्वी बनने की प्रेरणा की है।

शिक्षा वह है, जो शिक्षार्थी को यौनशुचिता, वीर्यरक्षण, संयम, जितेन्द्रियता के सुसंस्कारों से सुसंस्कृत करके उसे सदा के लिये विषयासक्ति से मुक्त करदे।

१०) (स्वाहा दिव्यं नभः गच्छ) उत्कट आत्म-साधना द्वारा दिव्य नभ को प्राप्त कर।

नभ नाम उस जलपूरित अथवा मेघाच्छादित आकाश का है, जिसमें बिजलियां कोंदती कड़कती हैं और जिससे सधार जल बरसता है।

वीर्यसम्पन्न, निर्मल, वर्चोपेत, कान्तिमय, पराक्रमशील, शिक्षास्नात व्यक्ति का जीवन ही वह दिव्य नभ बनता है, जिससे मानव समाज में दिव्यता की दिव्य रेखायें रेखांकित होती हैं और जिसमें से शीतलता तथा शान्ति की अजस्र धारायें सुप्रवाहित होती हैं।

शिक्षाशास्त्रियों के लिये यहां एक दिव्य संकेत है। शिक्षा का लक्ष्य शिक्षार्थी के जीवन को दिव्यता तथा नभनीयता से सुसंचारित करना भी है।

११) (स्वाहा वैश्वानरं अग्निं गच्छ) उत्कट साधना द्वारा वैश्वानर अग्नि को प्राप्त हो।

आत्मा एष वैश्वानरः। वैश्वानरः रश्मिभिः पुनाति। अग्निर्वै एषः सूर्यः। यह आत्म-सूर्य वह वैश्वानर है, जो अपनी रश्मियों से जीवन को ज्योतित और पवित्र करता है।

आत्माग्नि को प्रज्वलित करके सूर्यसम ाश-मान बनना शिक्षा का चरम लक्ष्य है। आत्मोन्नति तथा आध्यात्मिक सम्पदा से शून्य शिक्षा शिक्षा नहीं है, एक अन्धतम अन्धकार है। शिक्षा वही है, जिससे आत्मिक विकास और आध्यात्मिक संविकास हो। आत्मत्व से युक्त व्यक्ति वह वैश्वानर अग्नि है, वह विश्वनायक प्रकाश है, जो विश्व का सुनयन करता है।

१२) (मे हार्दि मनः यच्छ) मेरे हृदय में मन दे।

मन हृत्प्रतिष्ठ है। मन का अधिष्ठान हृदय है। मन शब्द का प्रयोग यहां हृदय के अर्थ में हुआ है।

शिक्षक और शिक्षार्थी के पारस्परिक सम्बन्ध हार्दिक होने चाहियें, औपचारिक नहीं। जैसे पिता माता हृदय से अपने पुत्र पुत्री को प्यार करते हैं और पुत्र पुत्री हृदय से अपने माता पिता को प्यार करते हैं, उसी प्रकार आचार्य और शिष्य आपस में हार्दिक प्रेम के बन्धन से सुबद्ध होने चाहियें।

"मेरे हृदय में अपना मन दे, मेरे हृदय में अपना हृदय दे", यह कहकर आचार्य अपने शिष्य से उसका हृदय मांग रहा है। हृदय के अर्पण में जीवन का

अर्पण है। शिक्षार्थी जब अपने शिक्षक को अपना मन, अपना हृदय, अर्पण कर देता है, तब ही वह वह सब कुछ बनता है, जो कुछ उसे उपर्युक्त सम्बोधनों के अनुसार बनना चाहिये।

१३) (ते धूमः दिवं गच्छतु) तेरा धूम द्यौ को जाये, तेरा यश द्यौ तक पहुंचे।

वेदों में धूम शब्द का प्रयोग सर्वत्र यश के अर्थ में ही हुआ है। श्रवो धूमः। लोक में भी धूम का प्रयोग यश के अर्थ में होता है। "अमुक व्यक्ति ने धूम मचादी। अमुक व्यक्ति की धूम मच गयी", धूम शब्द के ऐसे प्रयोग यश के अर्थ में ही होते हैं।

"द्यौ को तेरा धूम जाये, द्यौ तक तेरा यश पहुंचे"—यह एक वैदिक ईडियम है, जिसका तात्पर्य है "तेरा यश दिव्य हो और तेरे दिव्य यश की गूंज सारे संसार में गूंजे। तेरा यश सर्वत्र व्यापे"। जो शिक्षार्थी अपने शिक्षक को अपना मन समर्पित कर देता है, निस्सन्देह वह यशस्वी होता है।

जिस शिक्षा से शिक्षार्थी यशस्वी बने, वह शिक्षा धन्य है। और वही आचार्य धन्य है, जो शिक्षा के इस सुन्दर आदर्श को अपने हृदय में स्थापित करके अपने विद्यार्थियों को सर्वतः यशस्वी और यशःपुञ्ज बनाये।

१४) (स्वाहा) उत्कट साधना द्वारा (स्वः ज्योतिः) आनन्द और ज्योति [से युक्त होकर] (पृथिवीं) पृथिवी को (भस्मना आ-पृण) भस्मना पूरदे।

आचार्य कह रहा है, "वत्स! अपने जीवन में आनन्द और ज्योति का सम्पादन करके सम्पूर्ण पृथिवी को भस्मना आनन्द और ज्योति से पूरदे। न केवल पृथिवी पर निवास करनेवाली प्रजा को, अपि तु स्वयं इस पृथिवी की भस्म के कण कण को आनन्द और ज्योति से आपूर भरदे। इस पृथिवी के रेणु रेणु को, पृथिवी माता की सम्पूर्ण धूल को आनन्द और ज्योति से संसिक्त करदे"।

कितनी सुन्दर, सुहावनी और सुभावनी उत्प्रेरणा अन्तर्निहित है यहां इस सूक्त में आचार्यों तथा शिक्षार्थियों के लिये।

आनन्द और ज्योति न केवल अपने लिये, अपि तु सम्पूर्ण पृथिवी के लिये—शिक्षासम्बन्धी यह आदर्श-वाक्य प्रत्येक विद्यालय और विश्वविद्यालय में गुंजाया जाये, तो शिक्षा के क्षेत्र में एक कान्त क्रान्ति होजाये।

प्रत्येक उपलब्धि स्वाहा की, उत्कट आत्मसाधना की, अपेक्षा रखती है, यह प्रत्यक्ष है। शिक्षक और शिक्षार्थी स्वाहाकार के इस तत्त्व से सदा सर्वदा उद्बुद्ध रहें।

उत्कट आत्मसाधना द्वारा,
बन गम्भीर गहन उत्प्रेरित।
उत्कट आत्मसाधना द्वारा,
अन्तर्मुख हो अन्तरिक्ष में।
उत्कट आत्मसाधना द्वारा,
कर सम्प्राप्त देव सविता को।
उत्कट आत्मसाधना द्वारा,
कर सम्प्राप्त तेज सोम्यता।
उत्कट आत्मसाधना द्वारा,
कर सम्प्राप्त दिवस और रात।
उत्कट आत्मसाधना द्वारा,
हो तू छन्दों को सम्प्राप्त।
उत्कट आत्मसाधना द्वारा,
द्यौ और पृथिवी को कर प्राप्त।
उत्कट आत्मसाधना द्वारा,
बन यज्ञीय महक और महका।
उत्कट आत्मसाधना द्वारा,
वीर्य-सोम का संरक्षण कर।
उत्कट आत्मसाधना द्वारा,

वन नभ दिव्य और वृष्टि कर।
उत्कट आत्मसाधना द्वारा,
कर प्रज्वलित अग्नि वैश्वानर।
मन दे तू मेरे हृदय में,
द्यौ तक पहुंचे तेरा धूम।
उत्कट आत्मसाधना द्वारा,
सम्पादन कर स्वः और ज्योति,
पूर भस्मना इस पृथिवी को॥

सूक्ति— मनो मे हार्दि यच्छ।
मेरे हृदय में मन दे॥
दिवं ते धूमो गच्छतु।
द्यौ तक तेरा यश पहुंचे॥
स्वर्ज्योतिः पृथिवीं भस्मनापृण।
आनन्द और ज्योति [से युक्त होकर]
पृथिवी को भस्मना [आनन्द और ज्योति से]
पूरदे॥

**मापो मौषधीर्हिसीर्धाम्नो धाम्नो राजँस्ततो वरुण नो मुञ्च।
यदाहुरघ्न्या इति वरुणेति शपामहे ततो वरुण नो मुञ्च।
सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु
योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः॥ (य० ६/२२)**

मा आपः मा ओषधीः हिंसीः धाम्नः धाम्नः राजन् ततः वरुण नः मुञ्च।
यत् आहुः अघ्न्याः इति वरुण इति शपामहे ततः वरुण नः मुञ्च।
सु-मित्रियाः नः आपः ओषधयः सन्तु दुःमित्रियाः तस्मै सन्तु यः अस्मान्
द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः॥

अब आचार्य नवदीक्षित नवप्रविष्ट विद्यार्थियों में से प्रत्येक को शिक्षा करता है—(मा आपः हिंसीः मा ओषधीः) मत जलों को हिंस, मत ओषधियों को। न जलों की हिंसा कर, न ओषधियों की।

जलों से तात्पर्य यहां जलाशयों से है और ओषधियों से तात्पर्य है वृक्षों, लताओं, पौधों, अन्नों, फलों तथा जड़ी बूटी से। विद्यार्थियों में सार्वजनिक भावना की स्थापना करने के लिये आचार्य आरम्भ में ही उन्हें सिखाये कि सार्वजनिक उपयोग की वस्तुओं तथा स्थानों को ख़राब अथवा अपवित्र न करें।

स्नान, पान और सिंचाई के काम में आनेवाले जलाशयों के जल को गन्दा करना, उनके किनारे या उनके भीतर थूकना, कुल्ला करना अथवा मल मूत्र का त्याग करना, उनमें कूढ़ा कचरा फेंकना, उनका अपव्यय करना, इत्यादि जलों की हिंसा है।

फलदार वृक्षों को काटना; सड़कों, नहरों तथा रेलवे-लाइनों के दोनों ओर उगे हुए वृक्षों की टहनियों को तोड़कर दातून बनाना, उनकी पत्तियों को तोड़कर पशुओं को खिलाना; उद्यानों, वाटिकाओं, पार्कों, बाग़ों व बग़ीचों की लताओं, घासों तथा दूबों को उखाड़ना उजाड़ना; जड़ी-बूटियों को उखाड़ उखाड़ कर फेंकना-इत्यादि औषधियों की हिंसा है।

जलों तथा ओषधियों की हिंसा न करने का यह आदेश उपलक्षणात्मक है। शिक्षक-गण शिक्षार्थियों को सिखायें कि वे सार्वजनिक हित व प्रयोग की सकल वस्तुओं को अशुद्ध, अपवित्र और नष्ट न करें।

अब शिक्षार्थियों के मुख से वेदमाता शिक्षक के प्रति कहलवाती है—

१) (राजन्)! (वरुण)! (धाम्नः धाम्नः) स्थान स्थान से (नः) हमें (ततः) उससे (मुञ्च) मुक्त रख।

विद्यार्थियों के मध्य में प्रकाशने और उनका रञ्जन करनेवाला होने से आचार्य अथवा शिक्षक को राजन् शब्द से सम्बोधन किया गया है। इस सम्बोधन से शिक्षक के प्रकाशन तथा रञ्जन रूपी दो प्रेरक गुणों का संकेत किया गया है।

वरुण नाम चन्द्रमा का है। चन्द्रमा सोम्यता का प्रतीक है। आचार्य और शिक्षक में चन्द्रमा के वरणीय गुण निहित होने चाहियें। चन्द्रिका, आह्लाद, सोम्यता, शीतलता—आचार्य और शिक्षक इन चारों गुणों से युक्त होना चाहिये। वरुण सम्बोधन में यही भाव अन्तर्निहित है।

प्रत्येक स्थान पर विद्यार्थियों के साथ उनका प्रमुख शिक्षक विद्यमान रहे और वह निरीक्षण करता रहे कि उसके विद्यार्थी कहीं भी जलों, ओषधियों तथा सार्वजनिक वस्तुओं तथा स्थानों की हिंसा न करें।

२) (वरुण) वरणीय आचार्यप्रवर ! विद्यार्थी (यत् इति आहुः) जो ऐसा कहते हैं (अघ्न्याः) अघ्न्याओ, और हम जो (इति शपामहे) इस प्रकार शपते हैं, (वरुण) वरणीय गुरुवर्य ! (ततः नः मुञ्च) उससे हमें मुक्त रख।

शप का अर्थ है कोसना, शपथ उठाना, सौगन्ध खाना।

अघ्न्या का अर्थ है अहन्या, अहननीया। मारना चाहें तो भी जिसे मारा न जा सके, जिसका कभी कदापि हनन न किया जा सके, किसी भी प्रकार जिसका वध न किया जा सके, वह अघ्न्या है। विद्यायें ही हैं, जिनका हनन नहीं किया जा सकता है।

विद्यार्थी प्रायः विद्याओं को कोसा करते हैं। कोई कहते हैं गणित बड़ा कठिन विषय है। कोई कहते हैं भूगोल बड़ा वाहियात विषय है। कोई कहते हैं इतिहास बहुत बुरा विषय है। यह इस प्रकार विद्याओं को कोसना है।

विद्यार्थी प्रायः विद्याओं की सौगन्ध भी खाया करते हैं। जब कोई विद्यार्थी किसी विद्यार्थी की किसी बात का विश्वास नहीं करता है, तो अपनी बात की सत्यता का विश्वास कराने के लिये वह विद्या की शपथ लेता है, इल्म की क़सम खाता है।

विद्याओं को कोसना या उनकी क़सम खाना, दोनों ही बहुत बुरी आदतें हैं। शिक्षक देखे कि उसके किसी भी विद्यार्थी में ये कुटेवें न हों, और यदि हों तो वह उन्हें वर्जे और उन्हें इन कुटेवों से मुक्त करे।

३) (आपः ओषधयः) जल और ओषधियां (सु-मित्रियाः सन्तु) सु-मित्रिया हों (नः) हमारे लिये, (दुःमित्रियाः सन्तु) दुःमित्रिया हों (तस्मै) उसके लिये, उस जनसमूह के लिये (यः अस्मान् द्वेष्टि) जो हमें द्वेषता है (च) और (यं वयं द्विष्मः) जिसे हम द्वेषते हैं।

ओषधयः शब्द का प्रयोग यहां ओषधिरूप रोगनिवारक भोजन के लिये हुआ है। आपो विश्वस्य भेषजम्। जल तो स्वयं ओषधिरूप होते ही हैं। फिर भी जल ओषधियां सुमित्रवत् लाभ उन्हीं को पहुंचाते हैं, जो द्वेषरहित होते हैं। जो द्वेष करते हैं, उनके लिये जल ओषधियां सुमित्र नहीं, दूर्मित्र सिद्ध होते हैं।

मित्र दो प्रकार के होते हैं—एक सुमित्र, दूसरे दुर्मित्र। सुमित्र लाभ पहुंचाते हैं, दुर्मित्र हानि। जल और ओषधियां मित्रवत् सेवन की जाती हैं, किन्तु द्वेष करनेवालों के शरीर में वे विष की मात्रा बढ़ाती हैं और द्वेषरहितों के शरीर में वे अमृत की वृद्धि करती हैं।

अपने शिक्षक से सुशिक्षा-प्राप्त द्वेषरहित विद्यार्थी कह रहे हैं—"आपके शिक्षोपदेश से हम द्वेषरहित हो गये हैं। अतः हमारे लिये जल ओषधियां सदा सुमित्रिया हों, सुमित्रवत् लाभकारी

हों। दुर्मित्रिया [हानिकारक] वे उनके लिये हों, जो हमसे द्वेष करते हैं अथवा हममें से जो उनसे द्वेष करते हैं।"

मनुष्य, पशु, पक्षी—सभी प्राणियों में द्वेष अन्तर्निहित है। वह तो सुशिक्षा और सुसाधना ही है, जिसके द्वारा परिष्कृत और सुसंस्कृत होकर मनुष्य द्वेषरहित बनते हैं। शिक्षा ऐसी साधनामयी हो और शिक्षक ऐसे साधनाशील हों कि विद्यार्थियों के जीवन सर्वथा द्वेषरहित होजायें। यह सरल नहीं, वड़ा कठिन कार्य है। यह उत्कट साधना से ही सम्भव होता है, अन्यथा बिल्कुल नहीं।

शिक्षा द्वेषरहिता। शिक्षा वही है, जो शिक्षार्थी को द्वेषरहित बनादे। जो द्वेषरहित होता है, उसका खाया पिया सुष्ठुतया अङ्ग लगता है और उससे जो सत्त्व बनता है, वह सर्वथा शुद्ध होता है। शुद्ध सत्त्व से युक्त जीवन ही परिवार, समाज, राष्ट्र और संसार के लिये वरदान सिद्ध होता है।

न तो जलों को हिंस न ओषधियों को,
राजन् वरुण! मुक्त रख उससे,
धाम धाम से हमको।
वरुण! जो ऐसा कहते हैं "अघ्न्याओ",
इस प्रकार कोसते हैं हम शपथ उठाते,
वरुण मुक्त रख उससे हमको।
जल ओषधियां हों सुमित्रिया हमारे लिये,
दुर्मित्रिया हों उस जनसमूह के लिये,
जोकि द्वेषता हमें और हम जिसे द्वेषते॥

सूक्ति—मापो मौषधीर्हिंसीः।
न जलों को हिंस न ओषधियों को॥
सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु।
सुमित्रिया हों हमारे लिये जल ओषधियां॥

हविष्मतीरिमा आपो हविष्माँ आ विवासति।
हविष्मान्देवो अध्वरो हविष्माँ अस्तु सूर्यः॥ (य० ६/२३)

हविष्मतीः इमाः आपः हविष्मान् आ-विवासति।
हविष्मान् देवः अध्वरः हविष्मान् अस्तु सूर्यः॥

पूर्व मन्त्र में विद्यार्थियों ने कहा है—जल ओषधियां हों सुमित्रिया हमारे लिये। जल ओषधियों की महिमा वर्णन करता हुआ आचार्य कहता है—(हविष्मतीः) हविष्मती हैं (इमाः आपः) ये जलधारायें। ये जलधारायें हविष्मती हैं—आचार्य के इस सुवाक्य में एक निगूढ़ रहस्य निहित है। ओषधियों के स्थान पर यहां हवि शब्द का प्रयोग हुआ है।

हविष्मतीः=हविस्+मतीः=हविःमतीः। हवि नाम शुद्ध पवित्र सामग्री का है। मनुष्य, पशु, पक्षी आदि समस्त प्राणियों का जीवन-निर्वहन एक यज्ञ है और इस पृथिवी पर उत्पन्न होनेवाली विविध सेवनीय वस्तुयें इस यज्ञ की हवि हैं। समस्त हवियां जल की सहायता से उत्पन्न होती हैं। जल के विना हवियों की उत्पत्ति सर्वथा असम्भव है। हविष्मती-रिमा आपः—इस वेदवाक्य में यही रहस्य प्रकट किया गया है। ये जल हविष्मती हैं, ये जलधारायें हविप्रदा हैं।

२) (हविष्मान् आ-वि-वासति) हविष्मान् पूर्णतया-विविधतया-उपसेवता है।

वास उपसेवायाम्। वास धातु का अर्थ है उपसेवा करना, आत्म-भाव से अथवा आत्मनिजता के साथ सबकी सुसेवा करना। आ का अर्थ है पूर्णतया। वि का अर्थ है विविधतया। हविष्मान् वही है, जो अपनी हवि से सबको विविधतया तृप्त परितृप्त करता है। वृक्ष अपनी फल और छाया

रूपी हवि से हविष्मान् है, वह अपनी छाया और फल की हवि से सबकी सुसेवा करता है। समुद्र जलरूपी हवि से हविष्मान् है, वह अपनी बादल-हवि से जल की वृष्टि करके प्राणियों की सुसेवा करता है।

३) (देवः अध्वरः हविष्मान्) दिव्य अध्वर हविष्मान् है।

अध्वरो वै यज्ञः। अध्वर नाम यज्ञ का है। दिव्य अध्वर नाम उस दिव्य यज्ञ का है, जो अनवरत सदा से होता चला आरहा है और सदा सर्वदा चलता रहेगा। यह प्रकृतिजन्य विश्वरूप अथवा सृष्टिरूपी यज्ञ ही वह दिव्य यज्ञ है, जिससे नानाविध अनन्त असंख्य हवियां उत्पन्न होती रहती हैं और सदा होती रहेंगी। पञ्च तत्त्व तथा पञ्च तत्त्वों से उत्पन्न सकल हवियां इसी दिव्य यज्ञ की देनें हैं।

४) (हविष्मान् अस्तु सूर्यः) हविष्मान् होवे सूर्य।

यहां "हविष्मान् अस्ति सूर्यः–हविष्मान् है सूर्य" ऐसा नहीं कहा गया है, अपि तु "हविष्मान् अस्तु सूर्यः—हविष्मान् होवे सूर्य" ऐसी कामना की गयी है। वह कौनसा सूर्य है, जिसके लिये आचार्य ऐसी कामना कर रहा है? वह है उसका विद्यार्थीरूपी सूर्य, जिसके लिये वह यह प्रेरणाप्रद कामना कर रहा है।

"मेरा प्रत्येक विद्यार्थी सूर्यवत् तेजस्वी, प्रकाशक, आकर्षक तथा हवि-संसृजक बनकर संसार के लिये जलधाराओं तथा दिव्य अध्वर के समान हविष्मान् हो, मानव समाज के लिये शुभ श्रेष्ठ हवियों का सुसम्पादक हो, मानुषी प्रजा के लिये ज्ञान-विज्ञान-सुविचार-श्रेष्ठाचार आदि श्रेष्ठ सम्पदाओं का सम्पादक हो", आचार्य की इस कामना में विद्यालयों की महिमा तथा अध्यापकों की गरिमा की एक सुस्पष्ट झांकी हो रही है।

हविष्मती ये जलधारायें,
हविष्मान् है आविवासता।
हविष्मान् है देव अध्वर,
हविष्मान् होवे यह सूर्य॥

सूक्ति—हविष्मतीरिमा आपः।
ये जलधारायें हविष्मतीहैं॥
हविष्माँ आविवासति।
हविष्मान् सुसेवा करता है॥

अग्नेर्वोऽपन्नगृहस्य सदसि सादयामीन्द्राग्नयोर्भागधेयी स्थ मित्रावरुणयोर्भागधेयी स्थ विश्वेषां देवानां भागधेयी स्थ। अमूर्या उप सूर्ये याभिर्वा सूर्यः सह। ता नो हिन्वन्त्वध्वरम्॥ (य० ६/२४)

अग्नेः वः अपन्न-गृहस्य सदसि सादयामि इन्द्राग्नयोः भाग-धेयीः स्थ मित्रावरुणयोः भाग-धेयीः स्थ विश्वेषां देवानां भाग-धेयीः स्थ। अमूः याः उप सूर्ये याभिः वा सूर्यः सह। ताः नः हिन्वन्तु अध्वरम्॥

पूर्व मन्त्र में आचार्य ने कामना की है— "हविष्माँ अस्तु सूर्यः, मेरा विद्यार्थीरूपी सूर्य हविष्मान् हो"। इस मन्त्र में आचार्य सूर्याओं को सम्बोधन कर रहा है।

सूर्या नाम उषा का है, उस उषा का नहीं, जो प्रातः सूर्योदय से पूर्व कुछ क्षणों के लिये अपनी लालिमा से आकाश को ललाम करके लुप्त होजाती है। सूर्या नाम उस विद्यारूपी उषा का है, जो अपने

पात्र को सदा सर्वदा ललाम रखती है। विद्यारूपी उषायें ही वे उषायें हैं, जो विद्यार्थियों को सूर्य के समान रश्मित और प्रकाशित करती हैं।

आचार्य कहता है—

१) विद्यारूपी उषाओ ! मैं (वः) तुम्हें (अग्नेः अपन्न-गृहस्य सदसि सादयामि) अग्नि के अपन्न-गृह के सदन में स्थापन करता हूं।

अग्नि=अग् + नि=अग्र+नी=अग्र+णी= आगे लेजानेवाला। विद्यार्थी अग्नि है, विद्याओं को आगे लेजानेवाला है। विद्यार्थी ही है, जो परम्परा से वंशानुवंश विद्याओं को आगे ले जाता है और उन्हें लोप होजाने से बचाता है। अग्रणी होने से ही आग को भी अग्नि कहते हैं।

अपन्न-गृह=अ-पन्न+गृह। अ=नहीं। पन= व्यवहार। पन्न=व्यवहारयुक्त। अपन्न=व्यवहार-शून्य, अबोध। अपन्न गृह=अबोध-गृह। विद्यार्थी का जीवन निस्सन्देह अपन्न-गृह है, अबोधता का घर है। अभी उसे कुछ भी बोध नहीं है। आचार्य विद्यार्थियों के अपन्न-गृह में, अबोध जीवन में, विद्यारूपी बोधमयी उषाओं की स्थापना करने जारहा है, अबोध को प्रबुद्ध करने जारहा है।

विद्यार्थीरूपी अग्नि के अपन्न-गृह में वह कौनसा सदन [कमरा] है, जिसमें आचार्य विद्यारूपी उषाओं को बैठायेगा ? मस्तिष्क ही है वह सदन, जिसमें सूर्याओं की चिरस्थायी स्थापना की जायेगी।

सचमुच विद्यायें वे उषायें हैं, जो अबोधों को प्रबुद्ध करती हैं। और आचार्य है विद्याओं तथा प्रबोधों का पन्न सम्पन्न अक्षय भण्डार। विद्यार्थी है अपन्न असम्पन्न अबोध रिक्त गृह।

"सूर्याओ ! मैं तुम्हें अग्नि के अपन्न-गृह के सदन में स्थापन करने जारहा हूं", शिक्षणालयों के शिक्षा-शास्त्री गहन चिन्तन करें वैदिक आचार्य के मुख से निकले शिक्षा-शास्त्र के इस गहन सूत्र पर। आचार्य आचार्या, शिक्षक शिक्षिका, अध्यापक अध्यापिका की साध की महिमा तथा उनकी साधना की गुरुता अन्तर्निहित है इस दिव्य सूत्र में।

२) सूर्याओ ! तुम (इन्द्राग्नयोः भाग-धेयीः स्थ) इन्द्र और अग्नि की भाग-धारिका हो।

विद्यार्थीरूपी इन्द्रियों का स्वामी होने से आचार्य इन्द्र है, और जैसाकि ऊपर व्याख्यात किया जा चुका है, विद्यार्थी अग्नि है।

भाग शब्द का प्रयोग यहां कर्तव्य, उत्तरदायित्व अथवा कर्तव्यांश के लिये हुआ है। विद्यायें न केवल बोध अथवा ज्ञान की सम्पादिका हैं, वे कर्तव्यांश-निर्धारिका भी हैं। वे जहां एक ओर आचार्य के कर्तव्यांश अथवा उत्तरदायित्व का निर्धारण करती हैं, वे वहां दूसरी ओर विद्यार्थी के कर्तव्यांश अथवा उत्तरदायित्व का भी निर्धारण करती है। आचार्य अपने कर्तव्यांशों का पालन तथा अपने उत्तरदायित्वों का निर्वहन करे और विद्यार्थी अपने कर्तव्यांशों का पालन तथा अपने उत्तरदायित्वों का निर्वहन करे— विद्याओं का यही वह सुफल है, जिसके सेवन से आजके ये विद्यार्थी कलके कर्तव्यपरायण तथा उत्तरदायित्व-निर्वाहक नागरिक नागरिका बनेंगे।

३) विद्यारूपी सूर्याओ ! तुम (मित्रावरुणयोः भाग-धेयीः स्थ) मित्र और वरुण की भाग-धारिका हो।

मित्र नाम सूर्य का है। वरुण नाम चन्द्रमा का है। सूर्य अपना प्रकाश चन्द्रमा को देता है। चन्द्रमा सूर्य से प्राप्त प्रकाश को चन्द्रिका [चांदनी] के रूप में सब ओर बिखेर कर प्राणियों को शीतल शान्त ज्योति से आह्लादित करता है।

आचार्य मित्र है, सूर्य है। विद्यार्थी वरुण है, चन्द्रमा है। आचार्य का कर्तव्य है अपना प्रकाश, अपना ज्ञान विद्यार्थी को देना और विद्यार्थी का

कर्तव्य है आचार्य से प्राप्त प्रकाश को अपने जीवन में प्रस्थापन करना।

विद्याओं से पन्न सम्पन्न होकर ही आचार्य ज्ञानसूर्य बना है और उस ज्ञानसूर्य का ज्ञानप्रकाश ग्रहण करके ही विद्यार्थी प्राह्लादक चन्द्रमा बनेगा।

४) सूर्याओ ! तुम (विश्वेषां देवानां भाग-धेयीः स्थ) सब देवों की भाग-धारिका हो।

विद्यायें न केवल आचार्य-देव और विद्यार्थी-देव की, अपि च सभी देवों की कर्तव्य-निर्धारिका तथा उत्तरदायित्व-निर्वाहिका हैं। अनन्ता वै देवाः। देव अनन्त हैं। आचार्य देव हैं। आचार्या देव हैं। अध्यापक देव हैं। अध्यापिका देव हैं। माता देव हैं। पिता देव हैं। पुत्र देव हैं। पुत्रियां देव हैं। अतिथि देव हैं। नेता देव हैं। राजा देव हैं। नागरिक देव हैं। नागरिका देव हैं। समाज-व्यवस्था के सुचारु-संचालन में यह परम आवश्यक है कि प्रत्येक देव सदा सर्वदा अपने कर्तव्यांश से अनुभूत और अपने उत्तरदायित्व से प्रभूत रहता हुआ निज निज कार्य का यथावत् संचालन करे।

५) (याः) जो (अमूः) वे [विद्यारूपी सूर्यायें] आचार्यरूपी (सूर्ये) सूर्य में (उप) उपस्थित हैं, (वा) या (सूर्यः) [आचार्यरूपी] सूर्य (याभिः सह) जिन [विद्यारूपी सूर्याओं] से सहित है, (ताः) वे [विद्यारूपी सूर्यायें] (नः अध्वरं) हमारे विश्व-यज्ञ को (हिन्वन्तु) बढ़ायें।

आचार्य आचार्या, अध्यापक अध्यापिका में जो विद्यायें संनिहित हैं, वे विद्यालय और विश्वविद्यालय की ही नहीं, विश्व-यज्ञ की प्रवर्धिका हों, वे सृष्टि और समष्टि यज्ञ की संवर्धिका हों। आचार्य की विद्यायें सृष्टि के विज्ञानों तथा समष्टि के संज्ञानों के स्रोतों को खोलकर मानव जाति का सुख सौभाग्य बढ़ानेवाली हों।

तुम्हें स्थापन करता हूं मैं,
अग्नि के अपन्नगृह-सदन में।
भागधारिका हो तुम,
इन्द्र और अग्नि की।
भाग-धारिका हो तुम,
मित्र और वरुण की।
भाग-धारिका हो तुम,
सभी सकल देवों की।
वे जो सूर्य में उपस्थित,
या है जिनसे सहित सूर्य,
रहें बढ़ाती वे अध्वर को,
सदा हमारे॥

हृदे त्वा मनसे त्वा दिवे त्वा सूर्याय त्वा।
ऊर्ध्वमिममध्वरं दिवि देवेषु होत्रा यच्छ॥
[य० ३७/१९]   (य० ६/२५)

हृदे त्वा मनसे त्वा दिवे त्वा सूर्याय त्वा।
ऊर्ध्वं इमं अध्वरं दिवि देवेषु होत्राः यच्छ॥

विद्यार्थी विद्या समाप्त करके अब गुरुकुल अथवा विद्यालय से विदा होरहे हैं। दीक्षान्त-समारोह में आचार्य प्रत्येक स्नातक को उपाधि वितरण करता हुआ प्रत्येक को आदेश देता है—

१) पुत्र ! इस गुरुकुल में, इस विद्यालय में (त्वा हृदे) तुझे हृदय के लिये, (त्वा मनसे) तुझे मन के लिये, (त्वा दिवे) तुझे दिव्यता के लिये, (त्वा सूर्याय) तुझे सूर्य [सूर्यता] के लिये [शिक्षित और निर्मित किया गया है]। आचार्य के इस सम्बोधन का एक एक पद उदात्त प्रेरणा देरहा है।

तुझे हृदय के लिये शिक्षित और निर्मित किया गया है। तू सदा सहृदय और हृदयवान् रहना। कभी कदापि कहीं भी अहृदय और हृदयहीन न होना। सहृदयता ही है, जो विद्या को सुशोभित करती है।

तुझे मन के लिये शिक्षित और निर्मित किया गया है। तू सदा सर्वदा मनस्वी और मननशील रहना। कभी कदापि कहीं भी मनस्विता और मननशीलता से शून्य न होना। मनस्विता और मननशीलता ही है, जो विद्या को सार्थक करती है।

तुझे दिव्यता के लिये शिक्षित और निर्मित किया गया है। दिव्य गुण कर्म स्वभाव से समलंकृत रहते हुए संसार में दिव्यताओं का साचार प्रसार करना, सब ओर दिव्य गुण कर्म स्वभाव की संव्याप्ति करना। दिव्यता ही है, जो विद्या को प्रतिष्ठित करती है।

तुझे सूर्यता के लिये शिक्षित और निर्मित किया गया है। सदा सर्वदा सूर्य के समान तेजस्वी, प्रकाशक और आकर्षक रहता हुआ मानव समाज के अज्ञानान्धकार को हटाकर मानव समाज में ज्ञान-प्रकाश पूरते रहना। सूर्यता ही है, जो विद्या को कलान्वित करती है।

२) तू (इमं अध्वरं ऊर्ध्वं) इस विश्वयज्ञ को ऊंचा करना। तेरे जीवन से यह विश्वयज्ञ अधोगामी न होने पाये, अपि तु सतत सन्तत् निरन्तर ऊर्ध्वगामी ही होता चला जाये।

ऊर्ध्वमिममध्वरम्—ऊंचा करना इस विश्वयज्ञ को, ऊंचा रखना इस विश्वयज्ञ को—यह आदर्श महा वाक्य दीक्षान्त के समय प्रत्येक स्नातक के मस्तिष्क तथा मन में अमिटरूपेण समंकित किया जाना चाहिये। विद्वान् स्नातक किसी एक देश या राष्ट्र की नहीं, विश्व की सम्पत्ति है। उसे किसी एक देश या राष्ट्र को नहीं, सारे विश्व को ऊंचा उठाना है और ऊंचा उठाये रखना है।

३) तू (दिवि) दिव्यता में [स्थित रहकर] (देवेषु) देवों में (होत्राः) होत्र (यच्छ) प्रदान करते रहना।

देवेषु शब्द का प्रयोग यहां विश्वदेवों अथवा विश्वमानवों के लिये हुआ है।

होत्र का अर्थ है पवित्र हवि और यज्ञ। हवि और यज्ञ का परस्पर सम्बन्ध है। हवि के बिना यज्ञ हो ही नहीं सकता। होत्राः शब्द का प्रयोग यहां शुद्ध पवित्र विचार-हवियों के लिये हुआ है। सुपावन विचार-हवियां ही हैं, जिनसे मानवीय यज्ञों का सुसम्पादन होता है। विचारदान ही महा दान है, परम दान है। सही और शुद्ध विचार ही हैं, जो विश्वयज्ञ को ऊंचा उठाते हैं और ऊंचा उठाये रख सकते हैं।

दिव्यता में स्थित रहकर दिव्यताओं से युक्त रहते हुए ही मानव की विचारहवियां शुद्ध और सही रहती हैं। इसीलिये आचार्य ने स्नातक को आदेश दिया है—"पुत्र ! सदा दिव्यता में स्थित रहना, दिव्य गुण कर्म स्वभाव से युक्त रहना और विश्व के सकल मानवदेवों में शुद्ध सुपावन विचार-हवियां होमते रहना"।

तुझे हृदय के लिये,
तुझे मन के लिये,
तुझे दिव्यता के लिये,
तुझे सूर्यता के लिये।
ऊंचा रख इस विश्वयज्ञ को,
रहना युक्त दिव्यता से और,
होमते रहना तू देवों में,
शुद्ध सुपावन विचार-हवियां ॥

सूक्ति—ऊर्ध्वमिममध्वरम्।
ऊंचा रख इस विश्वयज्ञ को ॥
दिवि देवेषु होत्रा यच्छ।
दिव्यता में स्थित रहता हुआ
मानवदेवों में विचारहवियां दे ॥

सोम राजन्विश्वास्त्वं प्रजा उपावरोह विश्वास्त्वां प्रजा उपावरोहन्तु। शृणोत्वग्निः समिधा हवं मे शृण्वन्त्वापो धिषणाश्च देवीः। श्रोता ग्रावाणो विदुषो न यज्ञं शृणोतु देवः सविता हवं मे स्वाहा ॥ (य० ६/२६)

सोम राजन् विश्वाः त्वं प्रजाः उप-अवरोह विश्वाः त्वां प्रजाः उप-अवरोहन्तु। शृणोतु अग्निः सं-इधा हवं मे शृण्वन्तु आपः धिषणाः च देवीः। श्रोत ग्रावाणः विदुषः न यज्ञं शृणोतु देवः सविता हवं मे स्वाहा ॥

प्रत्येक स्नातक के प्रति अपने सम्बोधन को जारी रखते हुए आचार्य आदेश दे रहा है—

१) (सोम राजन्) ! (त्वं विश्वाः प्रजाः उप-अवरोह) तू सब प्रजाओं को आश्रय कर, (विश्वाः प्रजाः त्वां उप-अवरोहन्तु) सब प्रजायें तुझे आश्रय करें।

स्नातक को आचार्य का यह आदेश स्वर्णाक्षरों में लिखा जाने योग्य तो है ही, शिक्षा जगत् में जन जन के श्रोत्रों में गुंजाये जाने योग्य भी है।

सम्पूर्ण कलाओं से कलान्वित पूर्णिमा के पूर्ण चन्द्र का नाम सोम है। सोम सम्बोधन में पूर्ण चन्द्र की सी कलान्वितता तथा आह्लादकता का भाव निहित है। राजन् सम्बोधन में राजने [प्रकाशने] तथा रञ्जन का भाव है।

प्रत्येक स्नातक पूर्णिमा के पूर्ण चन्द्र के समान कलान्वित तथा आह्लादक अपि च प्रकाशपुञ्ज तथा जनरञ्जक बनकर विद्यालय से निकल रहा है। और आचार्य उसे आदेश देरहा है कि वह अब विशाल संसार में प्रविष्ट होकर जनता को आश्रय करे और वह जनता में घुल मिल कर प्रजाओं की ऐसी सुसेवा और समुन्नति करे कि वह स्वयं जनता का अडिग आश्रय बन जाये। वह जनता का होजाये और जनता उसकी होजाये। पेटभराऊ विद्या भी कोई विद्या है। जनसेवी विद्या ही सच्ची विद्या है।

२) (अग्निः सं-इधा मे हवं शृणोतु) अग्नि प्रज्वलन के साथ मेरे आदेश को सुने।

जैसाकि मन्त्र २४ की व्याख्या में निरुक्त किया गया है, अग्नि शब्द का प्रयोग इस मन्त्र में विद्याओं को आगे लेजानेवाले के अर्थ में हुआ है। स्नातक विद्याग्नि से प्रज्वलित होकर विद्यालय से जारहा है। आचार्य आदेश देरहा है, "विद्याओं को मानव समाज में आगे लेजानेवाला मेरा यह स्नातकाग्नि प्रज्वलन अथवा प्रकाशन की भावना से मेरे उपर्युक्त आदेश को सुने"।

३) उपस्थित (आपः च धिषणाः देवीः शृण्वन्तु) जलशीला और सुभाषिणी देवियां सुनें।

दीक्षान्त समारोह में विराजी हुई जलशीला [सुशान्त सुशीला] और मृदुभाषिणी देवियों को सम्बोधन करके आचार्य कह रहा है कि वे स्नातकों को दिये गये मेरे आदेश को सुनें और आशीर्वाद दें कि वे मेरे आदेशों का यथावत् पालन कर सकें।

४) (ग्रावाणः) विवेचको ! (विदुषः यज्ञं न श्रोत) विद्वान् के यज्ञ के समान सुनो।

यह दीक्षान्त समारोह विद्वान्मात्र का यज्ञ है। "जिस श्रद्धा तथा दत्तचित्तता के साथ यज्ञ में मन्त्रपाठ का श्रवण किया जाता है, उसी श्रद्धा तथा दत्तचित्तता के साथ, विवेचको, स्नातकों को दिये गये मेरे आदेश को सुनो और उसका सम्यक् विवेचन

करो", विवेचकों के प्रति आचार्य की यह प्रेरणा सार्वजनिकता की द्योतक तथा पोषक है।

५) (शृणोतु देवः सविता हवं मे) सुने देव सविता पुकार मेरी।

यहां आचार्य सृष्टि के रचयिता, धारक, संचालक और प्रकाशक देव सविता से विनय करता है—"देव सविता मेरी विनय को स्वीकार करे"। कैसी विनय ? कि स्नातकों को जो आदेश दिया गया है, वह फलीभूत और सफलीभूत हो।

६) मेरा यह यज्ञ (स्वाहा) सुहुत हो, सार्थक सिद्ध हो।

सोम राजन्,
आश्रय कर तू सब प्रजाओं को,
सकल प्रजायें तुझे आश्रयें।
सुने अग्नि सप्रज्वलन आदेश मेरा,
सुनें जलशीला और सुभाषिणी देवियां।
सुनो विवेचको,
विद्वान् के यज्ञ के समान,
सुने देव सविता पुकार मेरी,
सुहुत सार्थक सिद्ध हो यज्ञ मेरा॥
सूक्ति—शृणोतु देवः सविता हवं मे।
सुनें देव सविता पुकार मेरी॥

देवीरापो अपां नपाद्यो व ऊर्मिर्हविष्य इन्द्रियावान्मदिन्तमः।
तं देवेभ्यो देवत्रा दत्त शुक्रपेभ्यो येषां भाग स्थ स्वाहा॥
(य० ६/२७)

देवीः आपः अपां नपात् यः वः ऊर्मिः हविष्यः इन्द्रिय-वान् मदिन्तमः।
तं देवेभ्यः देवत्रा दत्त शुक्रपेभ्यः येषां भागः स्थ स्वाहा॥

अपने आदेश को जारी रखता हुआ आचार्य कहे जारहा है—

१) (देवीः आपः) दिव्य जलराशियो! (वः) तुम्हारा (यः) जो (अपां न-पात्) जलों का न गिरानेवाला, (हविष्यः) हविमय, (इन्द्रिय-वान्) इन्द्रिय-वान्, (मदिन्-तमः) आनन्दप्रद-तम (ऊर्मिः) तरङ्ग है, (तं) उसे [तुम, उन] (देवत्रा) देवों में [संस्थित रहते हुए], (येषां) जिनके [तुम] (भागः स्थ) भाग हो, (शुक्र-पेभ्यः देवेभ्यः) शुक्र-पेयी देवों के लिये (दत्त) प्रदान करती रहो।

सामान्यंतः वैदिक वाङ्मय में ऊर्मि नाम तरङ्ग का है। यहां ऊर्मि शब्द का प्रयोग तरङ्गप्रवाह के लिये हुआ है। समुद्र का तरङ्ग-प्रवाह जलों का न गिरानेवाला अथवा जलों का उद्वाहक है, जलों का उत्प्रेरक है, जलों का ऊपर उठानेवाला है। प्रत्यक्षतः तरङ्गप्रवाह समुद्र की अक्षय जलराशियों को सदा ऊपर उछालता रहता है, उन्हें ऊर्ध्वगामी बनाये रहता है।

समुद्र का तरङ्गप्रवाह हविष्य, हविमय, हवि-सम्पादक भी है। सूर्यताप से सन्तप्त होकर सागर का तरङ्गप्रवाह वाष्प में परिणत होकर बादल बनाते हैं। वात पर आरूढ़ होकर बादल दूर दूर जाकर सर्वत्र मेंह बरसाते हैं। मेंह के जलों से जलाशय आपूर होते हैं। मेंह के जलों से ओषधियां, वनस्पतियां, अन्न, फल आदि हवियां उत्पन्न होती हैं।

सागर का जलतरङ्ग इन्द्रियवान् भी है। इन्द्रियवान् का अर्थ है बलवान्, वीर्यवान्, पराक्रमशाली। सागर का तरङ्गप्रवाह अदम्य और असह होता है। कौन है जो सागर की तरङ्गों को रोक या मोड़ सकता है।

समुद्र का तरङ्गप्रवाह मदिन्-तम भी है, आनन्द-प्रदतम भी है। तरङ्गों का उद्गम है ही आनन्द। तरङ्गें आनन्द की ही होती हैं। तरङ्गें आनन्द से ही तरङ्गित होती हैं।

"देवीः आपः" का प्रयोग यहां समुद्र की अक्षय दिव्य जलराशियों के लिये न होकर स्नातकरूप दिव्य ज्ञानराशियों के लिये हुआ है। विद्यायें स्वयं भी अनन्त, असीम और अपार ज्ञानराशियां हैं और उनका तरङ्ग [उत्प्रेरणा] उदात्तोदात्त है। ज्ञान-तरङ्ग सागरतरङ्ग की अपेक्षा कहीं अधिक अपां-नपात् [प्रजाओं को न गिरानेवाला], हविष्य [हविसम्पादक, सम्पन्नता का निष्पादक], इन्द्रियवान् तथा मदिन्तम होता है।

"दिव्य स्नातको ! दिव्य ज्ञानराशियो ! तुम्हारा जो ज्ञानतरङ्ग है, वह अपां-नपात् [प्रजाओं को उत्प्रेरनेवाला, हविष्य [उत्पादक, सृजनात्मक], इन्द्रियवान् तथा आनन्दप्रदतम है। उन देवों में संस्थित रहते हुए, जिनके तुम भाग हो, अपने इस ज्ञानतरङ्ग को तुम उन देवों में प्रदान करो, जो शुक्रपेयी हैं, जो शुक्रपान करते हैं"।

देव शब्द का प्रयोग यहां नागरिक के अर्थ में हुआ है। शुक्रपेयी देव उन नागरिकों का नाम है, जो शुक्र का, शुद्धता का, पवित्रता का, स्वयं पान करते हैं और अन्यों को पान कराते हैं। दूसरे शब्दों में पवित्रता की साधना तथा संव्याप्ति करनेवाले नागरिकों और नागरिकाओं को शुक्रपेयी देव कहते हैं।

विद्वान् स्नातकों का कर्तव्य है कि ज्ञान-तरङ्ग से तरङ्गित रहते हुए और राष्ट्रनागरिकों तथा विश्व-नागरिकों के मध्य में संस्थित रहते हुए वे सदा शुक्रपेयी नागरिकों को उत्प्रेरित करते रहें। नागरिकसाधारण में संस्थित रहकर स्वात्मप्रेरणा से उन्हें शुक्रपेयी नागरिक बनाना और लोकहिताय उन्हें सदा तरङ्गित तथा उत्प्रेरित रखना—सुशिक्षितों को आचार्य का यह आदेश अपने आपमें एक उदात्त सन्देश है।

२) मेरा यह आदेश (स्वाहा) सुहुत सार्थक सिद्ध हो।

दिव्य ज्ञानजल की सुराशियो,
तुम्हारा जो उत्तरङ्ग वह,
प्रजाओं को उठानेवाला,
और हविष्य इन्द्रिवान् मदिन्तम।
संस्थित रहते हुए,
सतत सन्तत देवों में,
जिनके हो तुम भाग,
उसे तुम देते रहना,
शुक्रपेयी देवों के लिये।
सुहुत सार्थक सिद्ध रहे,
आदेश यह मेरा॥

कार्षिरसि समुद्रस्य त्वाक्षित्या उन्नयामि।
समापो अद्भिरग्मत समोषधीभिरोषधीः॥ (य० ६/२८)

कार्षिः असि समुद्रस्य त्वा अक्षित्यै उत्-नयामि।
सं आपः अत्भिः अग्मत सं ओषधीभिः ओषधीः॥

दीक्षान्त समारम्भ के अन्त में जनपद का राजा अथवा राष्ट्र का राष्ट्रपति अथवा राजा या राष्ट्रपति का प्रतिनिधि आचार्य के प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता है—तू (कार्षिः असि) कार्षि है, मैं (त्वा समुद्रस्य अक्षित्यै उत्-नयामि) तुझे समुद्र की अक्षयता [परिपूर्णता] के लिये उत्-नयन करता हूं/शिरोधार्य करता हूं।

कृष विलेखने। कार्षि शब्द वंशज है कृष धातु

का, जिसका अर्थ है जोतना, खोदना, खींचना। इसी धातु से कृषि शब्द बना है, जिसका अर्थ है खेती। कार्षि का अर्थ है खेती करनेवाला। किसान हल से भूमि जोतकर, भूमि खोदकर, पानी खींचकर खेती करता है। तब अन्न की प्राप्ति होती है।

आचार्य भी कार्षि है कुल भूमि का, जिसमें तपरूप खुदाई होती है, संयमरूप जुताई होती है। वालक बालिका हैं वपित बीज, विद्यारूपी जलों से जिनका सिंचन किया जाता है और आत्मसाधना से रक्षण। तब जाकर राष्ट्र और विश्व के लिये स्नातक-स्नातिकारूपी ज्ञानराशियां उपलब्ध होती हैं, जो स्व-राष्ट्र के सुनागरिक तथा विश्व के विश्वदेव बनते हैं।

राष्ट्र अथवा विश्व एक समुद्र है, आचार्य जिसे ज्ञानराशि स्नातकों से, सुनागरिकों तथा विश्वदेवों से, अक्षयता के साथ परिपूर्ण रखता है। आचार्य-रूप कार्षि की इस दिव्य साधना के आगे नतमस्तक होकर जनपदराज समादरपूर्ण शब्दों में हार्दिक श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए कह रहा है—"आचार्य! तू कार्षि है। तू वह कार्षि है, जो राष्ट्रसमुद्र और विश्व-महासागर को अक्षयता के साथ आपूर्ण परिपूर्ण रखता है। तदर्थ मैं तुझे उत्-नीत करता हूं, तुझे उन्नीत करता हूं, तुझे शिरोधार्य करता हूं, राजमुकुट की तरह तुझे राष्ट्र के सानु [सर्वोच्च शिखर] पर और विश्व के मूर्धा पर आसीन करता हूं"।

सचमुच सच्चे आचार्य जनपदराजों और राष्ट्रपतियों से कहीं ऊंचे हैं, बहुत ऊंचे हैं। वे राष्ट्र के उच्चतर पति और विश्व के उच्चतम अधिपति हैं।

जनपदराज अब स्नातकों को सम्बोधन करके कहता है—(आपः) जलो! शीतल शान्त सिंचनशील स्नातको! तुम (अत्भिः) जलों से, शीतल शान्त सिंचनशील आचार्यों से (सं–अग्मत) संगत हुए हो। (ओषधीः) ओषधियो! तुम (ओषधीभिः) ओषधियों से (सं) संगत हुए हो। ज्ञानजलराशि स्नातक स्नातिका जल के समान शीतल, शान्त और सिंचन-शील होते हैं। विद्यानिधि स्नातक स्नातिका ओषधिवत् रोगनाशक और दोषनिवारक होते हैं। जल के समान शीतल, शान्त और सिंचनशील तथा ओषधिवत् रोगनाशक और दोषनिवारक आचार्यों से संगत रहकर ही वे वैसे बनते हैं। वन्द्यचरण आचार्यों के चरणों में स्नातकों की श्रद्धा को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये जनपदराज ने कहा है—"जलशील तथा ओषधिशील स्नातक-स्नातिकाओ! तुम जलशील तथा ओषधिशील आचार्यों आचार्याओं से संगत रहकर ही ऐसे बने हो"।

कार्षि है तू,
करता हूं उन्नीत तुझे मैं,
सागर के अक्षयता-हेतु।
संगत रहे हैं जलों से जल,
ओषधियों से ओषधियाँ।

यमग्ने पृत्सु मर्त्यमवा वाजेषु यं जुनाः।
स यन्ता शश्वतीरिषः स्वाहा॥ (य० ६/२९)
[ऋ० १.२७.७, सा० १४१५]

यं अग्ने पृत्सु मर्त्यं अवाः वाजेषु यं जुनाः।
सः यन्ता शश्वतीः इषः स्वाहा॥

जनपदराज द्वारा अर्पित श्रद्धाञ्जलि तथा सम्मान को ब्रह्मार्पण करता हुआ आचार्य कहता है:—

१) (अग्ने) प्रकाशस्वरूप प्रभो! आगे लेजानेवाले! तू (यं मर्त्यं) जिस मनुष्य को (पृत्सु) पृतों में (अवाः)

रक्षा करे और (यं) जिसे (वाजेषु) वाजों में (जुनाः) प्रेरे, (सः) वही (शश्वतीः इषः यन्ता) शश्वत् प्रगतियों को संचालन करनेवाला [होता है] ।

२) प्रभो ! मुझे प्राप्त प्रशस्ति व सम्मान तुझे (स्वाहा) समर्पित है ।

पृत् शब्द स्पृध [स्पर्ध] धातु से बना है, जिसका प्रयोग स्पर्धा अथवा संघर्ष के अर्थ में होता है ।

वाज नाम है बल, पराक्रम और प्रकाश का । यहां वाजेषु शब्द का प्रयोग पराक्रमों के अर्थ में हुआ है ।

शश्वत् शब्द में नैरन्तर्य का भाव है । सतत सन्तत निरन्तर चलनेवाली प्रगतियों का नाम शश्वतीः इषः है । इष गतौ । इष धातु का अर्थ है गति, प्रगति ।

संघर्ष, पराक्रम और सतत प्रगति का सहचार प्रत्यक्ष है । किसी भी समुदात्त लक्ष्य या उद्देश्य की सिद्धि के लिये संघर्ष अनिवार्य है । पराक्रम द्वारा संघर्षों में साफल्य प्राप्त होता है । संघर्षों में जूझने और उनमें विजय पाने के लिये परम पराक्रम करने पड़ते हैं । पराक्रमहीन संघर्षों में परास्त होजाते हैं । पराक्रमशाली ही संघर्षों को पार करते हुए प्रगति के पथ पर आरूढ़ रहते हैं और लक्ष्य या उद्देश्य की पूर्ति करते हैं ।

आचार्य का लक्ष्य जितना उदात्त और उसका उद्देश्य जितना सुमहान् है, सम्पूर्ति के मार्ग में उसके सामने उतने ही विकट संघर्ष भी हैं । भिन्न भिन्न प्रकृति के विद्यार्थी हैं, भिन्न भिन्न स्वभाव के अध्यापक प्राध्यापक हैं । उन सबको साधना, संभालना और उनसे यथावत् कार्य कराना साधारण संघर्ष नहीं है । फिर सबको स्वस्थ, सुसंस्कृत, सुशील, शालीन, सच्चरित्र, सच्चरित, सदाचारी, धर्मात्मा, आस्तिक, राष्ट्रनिष्ठ और विश्वनिष्ठ बनाना निस्सन्देह असाधारण पराक्रमों की अपेक्षा रखता है । संघर्ष और पराक्रम के समन्वय से शिक्षण-संस्था को सतत प्रगति के पथ पर आरूढ़ रखने के लिये अमित क्षमता और विचक्षणता चाहिये ।

ब्रह्मपरायण और ब्रह्मार्पित आचार्य ही अतुल पराक्रमों द्वारा सकल संघर्षों को पार करता हुआ प्रगति के पथ को प्रशस्त रख सकता है । परम आस्तिक परम पावन आचार्य ने तभी तो कहा है, "अग्ने ! तू जिस मनुष्य की संघर्षों में रक्षा करता है और तू ही जिसे पराक्रमों में प्रेरता है, वह मानव ही सतत प्रगतियों का संचालक होता है" ।

"प्रकाशस्वरूप देव ! तेरे ही प्रकाश और अग्रनयन में मानव संघर्षों तथा पराक्रमों के समन्वय से प्रगतियों का सुसंचालक रह पाता है । मुझ मर्त्य के द्वारा संघर्षों और पराक्रमों के समन्वय से जो प्रगतियां होरही हैं, वे सब तेरे ही संरक्षण और तेरी ही अन्तःप्रेरणा से होरही हैं । अतः मुझे सम्प्राप्त प्रशस्ति और सम्मान तुझे समर्पित है", आचार्य की इस विनय में जो अगाध आस्तिक्य-साधना संनिहित है, प्रत्येक आचार्य व आचार्या उसकी अनुभूति से अनुभूत रहे, यह नितान्त वाञ्छनीय है ।

अग्ने,
जिस मानव की रक्षा,
करता है तू संघर्षों में,
और प्रेरता है तू जिसको,
पराक्रमों में ।
संचालक होता है वह ही,
सतत निरन्तर प्रगतियों में ॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् ।
आ ददे रावासि गभीरमिममध्वरं कृधीन्द्राय सुषूतमम् ।
उत्तमेन पविनोर्जस्वन्तं मधुमन्तं पयस्वन्तं निग्राभ्या स्थ
देवश्रुतस्तर्पयत मा ॥ (य० ६/३०)

देवस्य त्वा सवितुः प्र-सवे अश्विनोः बाहुभ्यां पूष्णः हस्ताभ्याम् । आ-ददे रावा असि गभीरं इमं अध्वरं कृधि इन्द्राय सु-सूतमम् । उत्-तमेन पविना ऊर्जस्वन्तं मधुमन्तं पयस्वन्तं नि-ग्राभ्याः स्थ देव-श्रुतः तर्पयत मा ॥

राष्ट्र के प्रमुख प्रतिनिधि अथवा प्रतीक के रूप में जनपदराज पुनः आचार्य का साभिवादन अभिनन्दन करता है—

१) आचार्य ! मैं (त्वा) तुझे (देवस्य सवितुः प्र-सवे) देव सविता के समुत्पन्न-संसार में (अश्विनोः) दो नासिका-छिद्रों के (बाहुभ्यां) प्राण-अपान-रूपी दो बाहुओं से तथा (पूष्णः) आत्मपूषा के (हस्ताभ्यां) मन-बुद्धि-रूपी दो हस्तों से (आ-ददे) ग्रहण करता हूं। [स्पष्टीकरण के लिये देखिये मन्त्र १ की व्याख्या]।

"आचार्य ! तूने मेरे राष्ट्र के इन स्नातकों में प्राणवत् पवित्रता का संचार और अपानवत् इनके दोषों का निराकरण किया है। तूने अपने शुद्ध सात्त्विक चिन्तन और सत्य शिव संकल्प से इनके जीवनों में दुरितों का परासुवन और भद्रों का आसुवन किया है। इन सर्वगुणसम्पन्न विभूतियों का सुनिर्माण करके तूने मेरे राष्ट्र का सुनिर्माण किया है। मैं अपने राष्ट्र की ओर से तुझे राष्ट्रनिर्माता के रूप में ग्रहण करता हूं"।

२) आचार्य ! तू (रावा असि) दाता है। ये स्नातक-स्नातिकायें राष्ट्र को तेरी महान् देन है। राष्ट्र और विश्व को तेरी यह देन सर्वश्रेष्ठ और सर्वोपरि देन है।

३) आचार्य ! तू शिक्षारूपी (इमं गभीरं अध्वरं) इस गहन यज्ञ को (उत्-तमेन पविना) उत्कृष्टतम वाणी से (इन्द्राय) राष्ट्रार्थं (सु-सूतमं) सु-निष्पादक-तम, (ऊर्जस्वन्तं) पराक्रमयुक्त, (मधुमन्तं) मधु-युक्त, (पयस्वन्तं) रसोपेत (कृधि) करता रह।

इन्द्रः क्षत्रम्। क्षत्रं वा इन्द्रः। क्षत्रं हि राष्ट्रम्। इन्द्र शब्द का प्रयोग यहां राष्ट्र के अर्थ में हुआ है। प्रजारूपी इन्द्रियों का स्वामी होने से राष्ट्र इन्द्र है। देश के सकलैश्वर्यों का स्वामी होने से भी राष्ट्र इन्द्र है।

शिक्षायाग किसी भी राष्ट्र का एक सर्वातिशय गहन गम्भीर यज्ञ है। इस याग में आचार्य की अगाधविद्योपेत वाणी की सर्वोत्कृष्टता का महत्त्व प्रत्यक्ष है। आचार्य की संसृजनात्मिका वाणी से शिक्षार्थियों के जीवनों का अतिशय सुनिष्पादन होता है। आचार्य की प्रेरणाप्रद वाणी उनके जीवनों में अमित संबल और अक्षय पराक्रम का संचार करती है। आचार्य की सुमधुर वाणी उनके जीवनों में मधुरता सरसाती है। आचार्य की रसमयी वाणी उनके जीवनों में सरसता का अजस्र स्रोत प्रसरित करती है।

विद्याओं से उपेत अपनी वाणी की अभिस्तुति से विनम्रीभूत होकर आचार्य स्वयं विद्याओं का अभिनन्दन करता है—

१) विद्याओ ! तुम (देव-श्रुतः) देव-श्रुत और (नि-ग्राभ्याः) नि-ग्रहणीय (स्थ) हो।

देवों से श्रुत, देवों से सुनकर प्राप्त की जाने से विद्यायें देवश्रुत हैं। विद्यायें हैं ही वे, जो दिव्य देवों और दिव्य देवियों के श्रीमुखों से उच्चारित होकर शिक्षार्थियों द्वारा सुनी, समझी और सीखी जाती हैं।

विद्यायें नि-ग्राह्य हैं, नितराम निरन्तर ग्रहणीय हैं। सभी विद्यायें अगाध, अथाह और अनन्त हैं। अतिशय विद्वान् होजाने पर भी एक सच्चा सुविद्वान् विद्या के प्रत्येक क्षेत्र में सदा विद्याग्राहक ही बना रहता है।

२) विद्याओ ! तुम (मा तर्पयत) मुझे तृप्त करती रहो।

एक सच्चा सुविद्वान् सुमहान् विद्वान् होजाने पर भी विद्याप्राप्ति में सदा अतृप्त रहता है। वह ज्यों ज्यों विद्यामृतों का पान करता जाता है, त्यों त्यों विद्या-पान की उसकी पिपासा बढ़ती ही जाती है। इस प्रकार निरन्तर विद्यापान करते जाने में उसे तृप्ति अनुभव होती है।

ग्रहण करता हूं तुझे मैं,
देव सविता के प्रसव में,
अश्वियों के बाहुओं से,
और हस्तों से पूषा के।
तू है दाता,
करते रहना राष्ट्र-हेतु,
उत्कृष्टतम वाणी द्वारा,
इस गहन गम्भीर यज्ञ को,
सुनिष्पादक पराक्रमयुत,
माधुर्य-और-सरसता-युत।
देवश्रुत निग्राह्य हो तुम,
तृप्त करती रहो मुझको ॥
सूक्ति— रावासि।
तू दाता है ॥

मनो मे तर्पयत वाचं मे तर्पयत प्राणं मे तर्पयत चक्षुर्मे तर्पयत श्रोत्रं मे तर्पयतात्मानं मे तर्पयत प्रजां मे तर्पयत पशून्मे तर्पयत गणान्मे तर्पयत गणा मे मा वि तृषन् ॥ (य० ६/३१)

मनः मे तर्पयत वाचं मे तर्पयत प्राणं मे तर्पयत चक्षुः मे तर्पयत श्रोत्रं मे तर्पयत आत्मानं मे तर्पयत प्रजां मे तर्पयत पशून् मे तर्पयत गणान् मे तर्पयत गणाः मे मा वि-तृषन् ॥

अब स्नातक-स्नातिकाओं को सम्बोधन करता हुआ जनपद राज कहता है—

१) तुम (मे मनः तर्पयत) मेरे मन को तृप्त करो। मेरे जनपद में अथवा विश्व में तुम जहां कहीं भी स्थित अथवा नियुक्त हो, वहीं कर्तव्य-निष्ठा के साथ ऐसा कर्तव्यपालन करो कि तुमसे मेरा मन सदा तृप्त सन्तुष्ट रहे।

२) तुम (मे वाचं तर्पयत) मेरी वाणी को तृप्त करो। इस राष्ट्र में अथवा विश्व में तुम जहां कहीं भी स्थित या नियुक्त हो, वहीं तुम्हारा शील स्वभाव, आचार विचार, व्यापार व्यवहार, चरित चरित्र, इतना सुष्ठु, शिष्ट और सुन्दर हो कि जिसकी प्रशंसा करके मेरी वाणी तृप्त होजाये।

३) तुम (मे प्राणं तर्पयत) मेरे प्राण को तृप्त करो। इस देश में या विदेश में तुम जहां कहीं भी स्थित या नियुक्त हो, तुम जन जन को इतना प्यार और जन जन का इतना हित सम्पादन करो कि मेरे हृदय में तुम्हारे प्रति निज प्राण के समान प्रियता सम्पादित होजाये, तुम मेरे प्राणप्रिय बन जाओ, तुम्हारे प्रति मेरी प्राणप्रियता से मेरा प्राण तृप्त होजाये।

४) तुम (मे चक्षुः तर्पयत) मेरे नेत्र को तृप्त करो। तुम सदा सर्वत्र ऐसे नीरोग, स्वस्थ, सुदृढ़, सुडौल, सुन्दर और दर्शनीय रहो कि तुम्हारे दर्शन से मेरी दृष्टि तृप्त होजाये। विश्व में जहां कहीं भी मैं तुम्हें देखूं, वहीं मेरी दृष्टि तुम्हारा अवलोकन करके सन्तृप्त होजाये।

५) तुम (मे श्रोत्रं तर्पयत) मेरे श्रोत्र को तृप्त करो। इस पृथिवी पर तुम जहां कहीं भी स्थित या नियुक्त हो, वहीं से मेरे कानों में तुम्हारी प्रशस्तियां आयें और तुम्हारी प्रशस्तियां सुनकर मेरे श्रोत्र सदा तृप्त रहें।

६) तुम (मे आत्मानं तर्पयत) मेरे आत्मा को तृप्त करो। तुम्हारा जीवन सदा सर्वदा ऐसा उत्थित, उच्च और उत्कृष्ट रहे कि तुमसे मेरा आत्मा नितान्त तृप्त परितृप्त रहे।

७) तुम (मे प्रजां तर्पयत) मेरी प्रजा को तृप्त करो। प्रत्येक स्थान, स्थिति और अवस्था में तुम सर्वत्र मेरे जनपद की प्रजा की, मेरे राष्ट्र की जनता की, ऐसी सुसेवा करो कि मेरी समस्त प्रजा सब प्रकार से तृप्त, सम्पन्न, सुखी और आनन्दित रहे।

८) तुम (मे पशून् तर्पयत) मेरे पशुओं को तृप्त करो। विद्यावारिधि स्नातकों की सेवाओं से न केवल राष्ट्र की मानव-प्रजा, अपि तु पशु-प्रजा भी, नीरोग, स्वस्थ और सुखप्रद रहती हुई सर्वतः सन्तृप्त रहे।

९) तुम (मे गणान् तर्पयत) मेरे सब वर्गों को तृप्त करो। स्नातक-स्नातिकाओं की सेवायें किसी एक वर्ग के लिये नहीं, राष्ट्र के समस्त वर्गों के लिये तृप्तिकारक होनी चाहियें। यहां राष्ट्र की अभिन्न भावात्मक एकता का संदर्शन होरहा है।

१०) किसी भी प्रकार से (मे गणाः) मेरे सब वर्ग (मा वि-तृषन्) वि-तृषित न रहें, प्यासे न रहें। तुम्हारे द्वारा मेरे राज्य में समस्त अभावों की ऐसी सम्पूर्ति होती रहे कि मेरी प्रजा के सभी वर्ग किसी भी क्षेत्र में किसी भी प्रकार के अभाव से वितृषित अथवा अतृप्त न रहें, अपि तु सर्वतः सर्वथा पूर्ण तृप्त रहें।

विद्यास्नात और शिक्षासुसंस्कृत स्नातक-स्नातिकाओं के प्रति राष्ट्र की कैसी आत्मभावना और आत्मनिजता होनी चाहिये और साथ ही उनसे राष्ट्र और विश्व क्या अपेक्षा रखे, इस विषय का इस मन्त्र में अति सुन्दर, सुबोध, सरल और तात्त्विक चित्रण किया गया है।

तृप्त करो तुम मेरे मन को,
तृप्त करो मेरी वाणी को,
तृप्त करो तुम मेरे प्राण को,
तृप्त करो तुम मेरे नेत्र को,
तृप्त करो तुम मेरे श्रोत्र को,
तृप्त करो मेरे आत्मा को,
तृप्त करो मेरी प्रजा को,
तृप्त करो मेरे पशुओं को,
तृप्त करो मेरे वर्गों को,
प्यासे रहें वर्ग न मेरे ॥

इन्द्राय त्वा वसुमते रुद्रवत इन्द्राय त्वादित्यवत इन्द्राय त्वाभिमातिघ्ने। श्येनाय त्वा सोमभृतेऽग्नये त्वा रायस्पोषदे ॥ (य० ६/३२)

इन्द्रा त्वा वसु-मते रुद्र-वते इन्द्राय त्वा आदित्य-वते इन्द्राय त्वा अभिमाति-घ्ने। श्येनाय त्वा सोम-भृते अग्नये त्वा रायःपोष-दे ॥
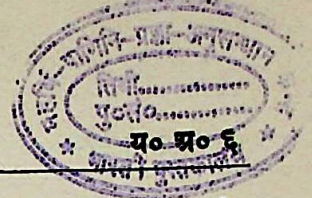
पूर्व मन्त्र में जनपदराज ने स्नातक-स्नातिकाओं को सम्बोधन करते हुए कहा था—"मेरी प्रजा को तृप्त करो, मेरे पशुओं को तृप्त करो, मेरे वर्गों को तृप्त करो, मेरे वर्ग प्यासे न रहें" । इस सम्बोधन को दृष्टि में रखते हुए आचार्य अपने प्रत्येक स्नातक स्नातिका को राष्ट्र के लिये अर्पण करता है—

१) मैं (त्वा वसु-मते रुद्र-वते इन्द्राय) तुझे वसु-मत् रुद्र-वत् राष्ट्र के लिये प्रार्पित करता हूं। मैं तुझे राष्ट्र के लिये प्रार्पित करता हूं और राष्ट्रार्पित रहता हुआ तू स्वराष्ट्र को वसु-मत् [ऐश्वर्य-सम्पन्न] और रुद्र-वत् [शौर्य-सम्पन्न] बनाता रहे। ऐश्वर्य और शौर्य के संयोग से ही राष्ट्र सबल होता है। ऐश्वर्य के बिना शौर्य और शौर्य के बिना ऐश्वर्य किसी काम का नहीं होता।

२) मैं (त्वा आदित्य-वते इन्द्राय) आदित्य-वत् राष्ट्र के लिये प्रार्पित करता हूं। मैं तुझे राष्ट्र के लिये प्रार्पित करता हूं और राष्ट्रार्पित रहता हुआ तू स्वराष्ट्र को आदित्य [सूर्य] के समान प्रकाश से पूरता रहे। ऐश्वर्य और शौर्य की अक्षुण्णता प्रकाश में ही निहित है। अन्धकार में ऐश्वर्य और शौर्य का ह्रास होजाता है।

३) मैं (त्वा अभिमाति-घ्ने इन्द्राय) तुझे अभिमाति-घ्न राष्ट्र के लिये प्रार्पित करता हूं। मैं तुझे राष्ट्र के लिये प्रार्पित करता हूं और राष्ट्रार्पित रहता हुआ तू राष्ट्र के अभिमाति का हनन अथवा निराकरण करता रहे।

अभिमाति नाम अभिमानी अभिमान का है। अभिमान अन्धा होता है और व्यक्तियों के समान राष्ट्रों को भी वह विनाशकारी ठोकरें खिलाता है। अभिमान विनाश का पुरोगामी है। अभिमान आया कि सर्वनाश हुआ। अभिमान की ठोकरें ऐश्वर्य, शौर्य और प्रकाश-तीनों को विनष्ट कर देती हैं। अतः यहां यथाक्रम संकेत किया गया है कि राष्ट्र में से अभिमान के निराकरण में राष्ट्र का हित है।

४) मैं (त्वा सोम-भृते श्येनाय) तुझे सोम-भृत् श्येन के लिये प्रार्पित करता हूं। मैं तुझे श्येन के लिये प्रार्पित करता हूं और श्येनार्पित रहता हुआ तू श्येन में सोम-भरण करता रहे।

श्यैङ् गतौ। श्येन शब्द की उत्पत्ति श्यैङ् धातु से हुई है, जिसका प्रयोग अतिशय तीव्र गति के अर्थ में होता है। अति तीव्र गति से प्रगति करने-वाला होने से राष्ट्र श्येन है। अतिशय तीव्र गति से उड़ने से बाज़ पक्षी को श्येन कहते हैं। सोम शब्द का प्रयोग सोम्यता के अर्थ में हुआ है।

तीव्रता के साथ उग्रता अच्छी नहीं होती है। सोम्यता से युक्त तीव्रता ही लक्ष्य की सिद्धि कराती है। जहां अभिमान होता है, वहां तीव्रता के साथ उग्रता आजाती है। उग्रता तीव्रता में साधक नहीं, बाधक होती है। वह तो सोम्यता है, जो लक्ष्यसिद्धि में तीव्रता की सहायक होती है। इसीलिये आचार्य ने यहां श्येन और सोम के समन्वय का संकेत किया है।

५) मैं (त्वा रायःपोष-दे अग्नये) तुझे आत्मैश्वर्य की पुष्टि देनेवाले अग्नि के लिये प्रार्पित करता हूं। मैं तुझे अग्नि के लिये प्रार्पित करता हूं और अग्न्यार्पित रहता हुआ तू अग्नि में आत्मैश्वर्यों की पुष्टि प्रदान करता रहे।

यहां राष्ट्र के लिये अग्नि शब्द का प्रयोग हुआ है। अग्र-नी, अग्रे-णी, अग्री, होने से राष्ट्र को अग्नि कहा गया है। आगे ही आगे बढ़नेवाले राष्ट्र का नाम अग्नि है। सतत सन्तत आगे बढ़ने के लिये आत्मैश्वर्यों के पुष्टीकरण की आवश्यकता होती है। आध्यात्मिकता से शून्य भौतिक ऐश्वर्य राष्ट्र को आगे न लेजाकर पीछे लेजाते हैं। भौतिक ऐश्वर्य भोग और रोग की वृद्धि करते हैं। आध्यात्मिक ऐश्वर्य ही है, जो संयम की साध से भौतिक ऐश्वर्यों के विष का शमन करते रहते हैं।

आचार्य के इन पञ्चादेशों में स्नातक-स्नातिकाओं के लिये राष्ट्रनिष्ठा और राष्ट्रसाधना के लिये पांच अमिट सुस्पष्ट रेखायें समंकित हैं।

तुझे प्रार्पित करता हूं मैं,
वसुमत् रुद्रवत् इन्द्र के लिये।
तुझे प्रार्पित करता हूं मैं,
आदित्यवत् इन्द्र के लिये।
तुझे प्रार्पित करता हूं मैं,
अभिमाति-हन इन्द्र के लिये।
तुझे प्रार्पित करता हूं मैं,
सोम-भृत् श्येन के लिये।
तुझे प्रार्पित करता हूं मैं,
अध्यात्म-पोषक अग्नि के लिये॥

यत्ते सोम दिवि ज्योतिर्यत्पृथिव्यां यदुरावन्तरिक्षे।
तेनास्मै यजमानायोरु राये कृध्यधि दात्रे वोचः॥
(य० ६/३३)

यत् ते सोम दिवि ज्योतिः यत् पृथिव्यां यत् उरौ अन्तरिक्षे।
तेन अस्मै यजमानाय उरु राये कृधि अधि दात्रे वोचः॥

पूर्व मन्त्र में आचार्य ने एक-एक स्नातक को आदेश दिया था, "राष्ट्रार्पित रहता हुआ तू सदा अपने राष्ट्र की पञ्चधा सेवा करते रहना"। आचार्य के आदेश को शिरोधार्य करता हुआ प्रत्येक स्नातक यहां इस मन्त्र में प्रभु से विनय करता है—(सोम) ज्योतिष्मन्! (ते यत् ज्योतिः दिवि) तेरी जो ज्योति द्यौ में है, (यत् पृथिव्यां) जो पृथिवी में है, (यत् उरौ अन्तरिक्षे) जो विशाल अन्तरिक्ष में है, (तेन) उसी [ज्योति] से (अस्मै यजमानाय राये) इस यज्ञशील-राष्ट्र के लिये ऐश्वर्य-सम्पादनार्थ [मुझे] (उरु) विशाल [ज्योति] (कृधि) करदे, बनादे, बनाये रख।

और यावज्जीवन राष्ट्रार्थ समर्पित रहने के संकल्प के साथ प्रत्येक स्नातक अपने आचार्य से विनय करता है—भगवन्! इस (दात्रे) समर्पक के लिये [सदा इसी प्रकार] (अधि वोचः) आदेश देते रहना।

कितनी सुन्दर और सार्थक हैं ये दोनों ही विनय। प्रथम ज्योतिष्मान् प्रभु से विनय की गयी है, "मुझे विशाल ज्योति प्रदान करते रहना" और फिर आचार्य से विनय की गयी है, "मुझे आदेश उपदेश देते रहना"। ये विनय व्याख्या की नहीं, अनुभूति की अपेक्षा रखती हैं।

सर्वतः स्नात स्नातक राष्ट्रार्पित होकर संघर्षपूर्ण संसार में प्रविष्ट होरहा है इस संकल्प के साथ कि वह अपने सर्वतोमुखी कर्तव्यों का निर्वहन करता हुआ और विश्वतोमुखी संघर्षों में जूझता हुआ अपने राष्ट्र को अपनी दृष्टि से ओझल न करेगा। वह अपने स्वार्थ के लिये अपने राष्ट्र के हित का कभी कदापि बलिदान न करेगा। उसका प्रत्येक व्यापार, व्यवसाय और व्यवहार राष्ट्रसाधक होगा।

आचार्य-कुल में वह जब तक रहा, अपने आचार्य का होकर रहा। आज वह अपने प्रेमास्पद तथा श्रद्धास्पद आचार्य से विदा होरहा है और विनय कररहा है, "वन्द्यचरण आचार्य! मैं तेरा हूं और सदा ही तेरा रहूंगा। जिस हृदय से मैं यहां तेरे आदेश उपदेश का पालन करता रहा हूं, उसी प्रकार सर्वत्र करता रहूंगा। उचित आदेश और उपदेश से मुझे इसी प्रकार सदा सर्वदा उपकृत करते रहना"।

ज्योतिष्मन्,
तेरी जो ज्योति,
द्यौ में जो पृथिवी में,
जो विशाल अन्तरिक्ष में,
उससे इस यजमान के लिये,
ऐश्वर्य के सम्पादन-हेतु,
मुझे बनाये रखना सन्तत,
उस ज्योति से ज्योतिष्मान् ।
राष्ट्रार्पित मेरे लिये,
देते रहना उचितादेश ॥
सूक्ति—अधि दात्रे वोचः ।
समर्पक के लिये आदेश दे ॥

श्वात्रा स्थ वृत्रतुरो राधोगूर्ता अमृतस्य पत्नीः ।
ता देवीर्देवत्रेमं यज्ञं नयतोपहूताः सोमस्य पिबत ॥
(य० ६/३४)

श्वात्राः स्थ वृत्र-तुरः राधःगूर्ताः अमृतस्य पत्नीः ।
ताः देवीः देवत्रा इमं यज्ञं नयत उप-हूताः सोमस्य पिबत ॥

आचार्या इस मन्त्र से यहां विशेषतया स्नातिकाओं को सम्बोधन कररही है—

१) (देवीः) देवियो ! दिव्य गुणों से युक्त स्नातिकाओ ! तुम (श्वात्राः) शिवा, कल्याणकारिणी, (वृत्र-तुरः) पाप-नाशिनी, (राधःगूर्ताः) ऐश्वर्यवर्धिनी, (अमृतस्य पत्नीः) अमृत की रक्षा करनेवाली (स्थ) हो ।

स्नातिकाओं को पत्नी तथा माता बनना है। अतः उनके लिये यह परम आवश्यक है कि वे परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व के लिये कल्याणकारिणी हों, निष्पापता तथा निर्दोषता का सम्पादन करनेवाली हों, परिवार की सुव्यवस्था करके धनैश्वर्यों की वृद्धि करनेवाली हों, और जो कुछ अमृतमय तथा अमृतोपम है उस सबकी रक्षा करनेवाली हों ।

२) (ताः) वे तुम (देवत्रा) देवों में, गृहदेवों में, समाजदेवों में (इमं यज्ञं) इस यज्ञ को, इस विद्यारूपी यज्ञ को, इस ज्ञानयज्ञ को (नयत) लेजाओ। आचार्याकुल में तुम जिस ज्ञानरूपी यज्ञ का सम्पादन करती रही हो, उस उपार्जित ज्ञान से तुम सब देवों और देवियों को ज्ञानी बनाओ और सब प्रकार से उन्हें लाभान्वित करो ।

३) सर्वत्र (उप-हूताः) समादृत हुई तुम (सोमस्य पिबत) सोम का पान करो, सुख आनन्द का सेवन करो ।

हूताः का अर्थ है बुलाई जाकर । उप-हूताः का अर्थ है स्वागत की जाकर, आइये आइये—ऐसे कही जाकर, समादृत होकर। "पितृकुल में या पतिकुल में, तुम जहां भी हो, वहीं तुम्हारा आदर समादर हो और तुम सब प्रकार के सुख-सुविधारूपी सोम का सेवन करो" ।

देवियो ! हो तुम शिवा वृत्रतुर,
राध-वर्धिका और अमृत की,
रक्षा करनेवाली ।
वह तुम देवों में लेजाओ,
इस सुयज्ञ को ।
आहृत और समाहृत होकर,
सदा सोम का पान करो तुम ॥

मा भेर्मा संविक्था ऊर्जं धत्स्व धिषणे वीड्वी सती वीडयेथामूर्जं दधाथाम् । पाप्मा हतो न सोमः ॥ (य० ६/३५)

मा भेः मा सं-विक्थाः ऊर्जं धत्स्व धिषणे वीड्वी सती वीडयेथां ऊर्जं दधाथाम् । पाप्मा हतः न सोमः ॥

अन्त में आचार्य प्रत्येक स्नातक स्नातिका को एक अदम्य उदात्त प्रेरणा और सदा स्मरणीय एक आदर्शवाक्य प्रदान करता है।

आदर्शवाक्य है—(पाप्मा हतः, न सोमः) पाप हत हो, न सोम।

पाप्मा का अर्थ है पाप, अधर्म। सोम का प्रयोग यहां पाप्मा से उलटे अर्थ में हुआ है। अतः इस मन्त्र में सोम का अर्थ पुण्य अथवा धर्म है।

"पाप्मा हतो न सोमः। पाप हत हो, सोम नहीं। अधर्म का क्षय हो, धर्म की जय हो"—प्रत्येक स्नातक स्नातिका का ही नहीं, प्रत्येक सच्चे और अच्छे मानव का यह आदर्श-वाक्य और उसके जीवन का यही आदर्श होना चाहिये। वैदिक आचार्य के द्वारा प्रदत्त इस आदर्श-वाक्य का प्रयोग भारत के ही नहीं, अखिल विश्व के महाविद्यालयों तथा विद्यालयों के दीक्षान्त-संस्कारों में किया जाना चाहिये।

धर्म क्या है, अधर्म क्या है ? वैदिक वाङ्मय में धर्म का पर्यायवाची शब्द है भद्रम् और अधर्म का दुरितम्। यद्यद् दुरितं अधर्मम्। यद्यद् भद्रं धर्मम्। दुरित अधर्म है, भद्र धर्म है। जो कुछ कु है वह सब अधर्म है। जो कुछ सु है वह सब धर्म है। जो कुछ मलिन है वह सब अधर्म है। जो कुछ निर्मल है वह सब धर्म है। पाप अधर्म है, पुण्य धर्म है। धर्म और अधर्म का सम्बन्ध विचार भावना और कर्म से है। पवित्र विचार और पवित्र भावना के साथ कर्त्तव्य कम का सम्पादन करना धर्म है। अपवित्र विचार और अपवित्र भावना के साथ व्यवहार करना अधर्म है। धर्म और अधर्म की वेदसम्मत व्याख्या का सार यही है।

आचार्य अनुभव करता है, "पाप्मा हतो न सोमः" की साध सरल नहीं है, कठिन है, बहुत कठिन है, कठिनतम है। अतः प्रत्येक स्नातक स्नातिका को उदात्त प्रेरणा प्रदान करता हुआ वह कहता है—

१) (मा भेः) मत डर, (मा सं-विक्थाः) मत घबरा, (ऊर्जं धत्स्व) ऊर्जं धारण कर।

विक्=घबराना, उद्विग्न होना, कांपना, थर-थराना, विचलित होना, पृथक् होना।

ऊर्ज नाम है धैर्य, उत्साह और साहस का, जिनके आश्रय से अतुल पराक्रम किया जाता है।

मा भेः, मा संविक्थाः, ऊर्जं धत्स्व, इन प्रेरणा-वाक्यों में अजस्र संबल, अक्षय ओज और अथाह उत्साह संनिहित है। यतो धर्मस्ततो जयः। जहां धर्म है, वहां विजय निश्चित है। फिर भय कैसा और घबराना क्यों। धर्म अधर्म के संघर्ष में न भयभीत होना, न घबराना, अपि तु धैर्य, उत्साह और साहस को धारण किये हुए कार्य किये जाना।

२) बाधा और संकट के उपस्थित होने पर न डरना, न घबराना, अपि तु अपनी उभय धिषणाओं को सम्बोधन करना—(धिषणे) ! दोनों (वीड्वी सती) बलवती होकर (वीडयेथां) वीडन करो, (ऊर्जं दधाथां) ऊर्जं धारण करो।

वीड का अर्थ है वह बल, जो सामने आनेवाली बाधाओं से टकराकर उन्हें चूर चूर कर देता है। वीड्वी का प्रयोग यहां बलवती बुद्धि और भावना के लिये हुआ है। बुद्धि का निवास मस्तिष्क में है और भावना का हृदय में।

(त्रायस्व) तार, नीरोग और स्वस्थ रख।

ओष [दाह, जलन] और दोष [रोग] का धि [शोधन] करनेवाली वस्तु को ओषधि कहते हैं। परमात्मा ओषधि है, वह ओषधि, जो अन्तः बाह्य सकल दाहों और शारीरिक व आत्मिक सकल दोषों का निवारण करके मानव जीवन को सर्वतः स्वस्थ बनाती है। जो भी परमात्म-ओषधि का आत्मना सेवन करते रहते हैं, वे सर्वतः शुद्ध सुदिव्य रहते हैं। मानव प्रजा ने देवयाजक के लिये यहां बड़ी ही सुन्दर प्रार्थना की है—सर्वदोषनिवारक प्रभो! इस देवयाजक को सदा सर्वदा इसी प्रकार निर्दोष और निर्विकार रखता हुआ इसे दिव्यताओं से सदा स्वस्थ रख।

७) मन्त्रान्त में मानव प्रजा ने एक बड़ी ही महत्त्व-पूर्ण शुभ कामना की है—(स्व-धिते)! (एनं मा हिंसीः) इसे मत हिंस, इस देवयाजक की हिंसा न कर।

स्वधिति शब्द का प्रयोग यहां स्व-धिति, स्व-धारणशक्ति अथवा आत्मधारणा के अर्थ में हुआ है।

हन हिंसागत्योः। हिंसा, हानि, त्याग और गति—ये भाव हन धातु में निहित हैं। हिंसीः क्रिया का प्रयोग यहां परित्याग के अर्थ में हुआ है।

देवयाजक की साधना प्रत्यक्षतः अविचल आत्मधारणा की अपेक्षा रखती है। आत्मधारणा ही उसकी दिव्य साध का परम साधन है। आत्मधारणा के बल पर ही वह पृथिवी के देवयजन में सफलकाम हुआ है और उसी के बल पर वह उसकी सम्पूर्ति कर सकेगा। आत्मधारणा अक्षुण्ण बनी रहेगी तो धन जन आदि अन्य सब साधन स्वयमेव खिंचे चले आयेंगे। यदि आत्मधारणा ने उसका परित्याग कर दिया अथवा उसका साथ छोड़ दिया, तो उसका यज्ञ भ्रष्ट होजायेगा। स्वधारणा से युक्त रहता हुआ ही वह अन्त तक दिव्यीकरण के महा यज्ञ का अनवरत अनुष्ठान करता रह सकता है। इसी भावना से मानव-प्रजा ने सुकामना की है—देवयाजक की आत्म-धारणे! तू कभी कदापि इस देवयाजक का परित्याग न कर। तू इसके भीतर अन्त तक प्रस्थापित रह।

अन्यों से बचकर निकला हूं,
अन्यों को न विरोधा मैंने।
मैंने सदा तुझे पाया है,
शिष्टों के प्रति विनम्र,
और छोटों के प्रति उदार।
सेवन करते हैं सप्रेम,
हम देवयजन के लिये उस तुझे,
देव वनस्पते।
सेवन करें सप्रेम,
उस तुझे,
देवयजन के हेतु,
उस तुझे,
विष्णुयाग के लिये।
ओषधे तार,
न इसको त्याग,
स्व-धिते॥

द्यां मा लेखीरन्तरिक्षं मा हिंसीः पृथिव्या सम्भव।
अयं हि त्वा स्वधितिस्तेतिजानः प्रणिनाय महते सौभगाय।
अतस्त्वं देव वनस्पते शतवल्शो वि रोह सहस्रवल्शा वि वयं रुहेम॥
(य० ५/४३)

द्यां मा लेखीः अन्तरिक्षं मा हिंसीः पृथिव्या सं-भव।
अयं हि त्वा स्व-धितिः तेतिजानः प्र-निनाय महते सौभगाय।
अतः त्वं देव वनस्पते शत-वल्शः वि-रोह सहस्र-वल्शाः वि वयं रुहेम॥

देवयाजक जहां-जहां जारहा है, वहीं-वहीं मानव-प्रजा द्वारा उसे उत्प्रेरणा दी जारही है—

१) (द्यां मा लेखीः) द्यौ को मत गिरा, (अन्तरिक्षं मा हिंसीः) अन्तरिक्ष को मत हिंस, (पृथिव्या सं-भव) पृथिवी के साथ संयुक्त होजा/संयुक्त रह।

जैसाकि मन्त्र २७ में व्याख्यात किया गया है, द्यौ का प्रयोग हुआ है मस्तिष्क के अर्थ में और अन्तरिक्ष का अन्तःकरण अथवा हृदय के अर्थ में।

लेख लेखा स्खलने। लेख व लेखा, इन दोनों धातुओं का प्रयोग स्खलन, पतन, फिसलने, फिसल कर गिरने, के अर्थ में होता है।

उत्प्रेरणा आरोहण का सोपान है। उत् का अर्थ है ऊंचा। उत्-प्रेरणा का अर्थ है ऊंचा चढ़ने की प्रेरणा, ऊपर उठने की प्रेरणा। उत्प्रेरणा से आरोहण होता है। अवप्रेरणा से स्खलन अथवा पतन होता है। उत्कर्षशील साधक जब उत्कर्ष की ओर बढ़ रहा होता है, तब जहां तहां यदा कदा ऐसे उत्ताल चढ़ाव और ऐसे विकट मोड़ आते हैं कि उसकी चाल शिथलाने लगती है और उसका साहस अपि च उत्साह कुण्ठित होने लगता है। ऐसे अवसरों पर सार्वजनिक उत्प्रेरणायें पुनः उसके पगों में दृढ़ता, उसके साहस में अविचलता और उसके उत्साह में ध्रुवता का संचार करती हैं। साधक नवीन वेग और नवीन ओज के साथ उत्कर्ष के प्रगतिपथ पर अग्रसर होता रहता है। सार्वजनिक अभिनन्दनपत्रों अथवा मानपत्रों का मूल सार्वजनिक उत्प्रेरणाओं का प्रवहन ही था।

देवयाजक को यहां कितनी उदात्त और प्रबल प्रेरणायें दी गयी हैं।

"देवयाजक ! (द्यां मा लेखीः) मस्तिष्क को मत स्खला, मस्तिष्क को मत गिरा, दिमाग़ में स्खलन न आने दे, अविचल स्थिर स्थित प्रज्ञा से युक्त रह"।

"देवयाजक ! (अन्तरिक्षं मा हिंसीः) अन्तःकरण को मत हिंस, हृदय को मत हन, हृदय का हनन न कर, भय और संशय से ग्रस्त होकर हृदय को परास्त न होने दे, अपराजित हृदय से अपनी दिव्य साधना में निरत रह, आत्मविश्वास से युक्त रह, आत्मधृति से सुयुक्त रह"।

"देवयाजक ! (पृथिव्या.सं-भव) पृथिवी के साथ संयुक्त रह, पृथिवी की समस्याओं का समाधान कर, पृथिवी की उलझनों को सुलझा, स्थित-प्रज्ञा और अपराजित हृदय से पृथिवी के दिव्यीकरण की दिव्य साध में तत्परता के साथ जुष्ट संजुष्ट रह, निरन्तर जुटा रह"।

२) देवयाजक ! तेरी (अयं स्व-धितिः हि) यह स्व-धिति ही, यह स्व-धारणाशक्ति ही, यह स्व-धारणा ही, यह आत्म-धारणा ही (तेतिजानः) तीव्र [तेज] रहती हुई (त्वा) तुझे (महते सोभगाय) महत् सुभगत्व के प्रति, विशाल सौभाग्य के प्रति (प्र-निनाय) प्रकृष्टतया लेजाती रही है, निरन्तर प्र-नयन करती रही है।

३) (अतः) इसीसे, इस [आत्म-धारणा] के आश्रय से ही, (देव वनस्पते) दिव्य वनस्पते ! वटवृक्ष के समान दिव्यता से फैलनेवाले ! वटवृक्ष के समान सम्पूर्ण पृथिवी पर दिव्यतांकुरों को फैलानेवाले ! (त्वं) तू (शत-वल्शः) शतांकुर होकर (वि-रोह) सब ओर उग, सब ओर फैलता रह, विश्वतः व्यापता रह, सब ओर दिव्यता की व्याप्ति करता रह, और इसी आत्मधारणा के आश्रय से (सहस्र-वल्शाः) सहस्रांकुर होकर (वयं वि-रुहेम) हम सर्वतः उगें, हमें चाहिये कि हम दिव्यतांकुरों से अंकुरित होकर विश्वतः दिव्यता का प्रसार करें।

देवयाजक को उत्प्रेरित करते हुये यहां मानव-प्रजा ने भी उत्प्रेरणा सम्प्राप्त की है।

देवयाजक में और मानव-प्रजा में कोई अन्तर नहीं है। देवयाजक के पास भी एक द्यौ [मस्तिष्क], एक अन्तरिक्ष [हृदय], दो नेत्र, दो श्रोत्र, नासिका, मुख, आदि इन्द्रियां हैं। मानव-प्रजा में से प्रत्येक व्यक्ति के पास भी ये सब कुछ हैं। अन्तर है तो केवल

स्वधिति का है, आत्मधारणा का है। देवयाजक की आत्मधारणा तीव्र [तेज] है, प्रजा की स्वधिति मन्द है। यदि प्रजा की स्वधिति भी तीव्र होजाये तो देवयाजक का असीम प्रयास चिरस्थायी साफल्य से समन्वित हो जाये। जन-जन में इस तथ्य की अनुभूति का जागरण हुआ हैं और उसी जागरण की प्रचेतना से प्रचेतित होकर मानव-प्रजा के मुख से सर्वत्र उद्घोषित होरहा है—"देवयाजक! आत्मधृति से सम्पन्न होकर जिस प्रकार तू वटवृक्ष के समान दिव्यतांकुर से शत-वल्श [असंख्यांकुर] होकर सम्पूर्ण पृथिवी पर व्यापता रहा है और सम्पूर्ण पृथिवी का दिव्यीकरण करता रहा है, उसी प्रकार हमें भी चाहिये कि हम अपनी स्वधिति का तेजीकरण करते हुये वटवृक्ष के समान दिव्यतांकुरों से सहस्र-वल्श [असंख्यांकुर] होकर, सम्पूर्ण पृथिवी पर व्यापते रहें और तेरे द्वारा दिव्यीकृत पृथिवी का निरन्तर दिव्यीकरण करते रहें। हम भी दिव्य दम्पती बनें और दिव्यीकरण के इस दिव्य प्रवाह को वंशानुवंश अनवरत सुप्रवाहित रखें"।

द्यौ को मत गिरा,
अन्तरिक्ष को मत हिंस,
पृथिवी से रह संयुक्त।
यह स्वधिति ही,
रहती हुई तेजोमयी,
लेजाती रही है तुझे,
महत् सौभाग्य साफल्य के प्रति।
इसी से देव वनस्पते,
विरोहण करता रह तू,
होकर शतांकुर,
विरोहण करते रहें हम,
होकर सहस्रांकुर ॥

सूक्ति द्यां मा लेखीः।
मस्तिष्क को न गिरा,
स्थिर-मति रह,
स्थित-प्रज्ञ रह ॥
अन्तरिक्षं मा हिंसीः।
अन्तःकरण को न हिंस,
हिम्मत न हार,
हृदय से अपराजित रह ॥
पृथिव्या सम्भव।
पृथिवी से संयुक्त रह,
पृथिवी से जुट,
पृथिवी की समस्याओं को सुलझा ॥
शतवल्शो वि रोह।
शतांकुर होकर विरोहण कर ॥
सहस्रवल्शा वि वयं रुहेम।
सहस्रांकुर होकर हम विरोहण करें ॥

वेद के अध्ययन एवं भारतीय संस्कृति
के
ज्ञान का सर्वोत्तम तथा सर्वसुलभ साधन

[वेदसंस्थान का मासिक पत्र]

★ वेद के दिव्य काव्य वेद के अध्ययन का सर्वोत्तम साधन,

★ वेदमन्त्रों की विदेह-कृत मौलिक व जीवनप्रद व्याख्यायें,

★ गीतायोग, पातञ्जल योग, जीवन-निर्माण, विश्व-कल्याण और मानव-धर्म के प्रदर्शक,

लेखों से समन्वित

॥ एक एक शब्द पठनीय, मननीय और आचरणीय ॥
॥ एक एक तरंग मानव को ऊंचा उठानेवाली ॥
॥ एक एक प्रेरणा जीवन को आगे बढ़ानेवाली ॥
॥ एक एक चेतावनी मानस को चेतानेवाली ॥

वार्षिक मूल्य केवल तीन रुपये
विदेशों में छः शिलिंग
स्वयं ग्राहक बनिये और प्रियजनों को बनाइये

पता—व्यवस्थापक, वेदसंस्थान, अजमेर

संस्थान-साहित्य

विदेहकृत वेदव्याख्याग्रन्थ

१. प्रथम पुष्प (दो रुपये)

इसमें ऋग्वेद के प्रथम सूक्त [विषय ब्रह्माग्नि की अभिस्तुति], यजुर्वेद के प्रथम अध्याय [विषय श्रेष्ठतम कर्म की साधना के लिये व्यक्तित्व का सुनिर्माण], सामवेद की प्रथम दशति [विषय ब्रह्माग्नि का आह्वान] तथा अथर्ववेद के प्रथम सूक्त [विषय वाचस्पति और शिष्य] की व्याख्या है।

२. द्वितीय पुष्प (डेढ़ रुपये)

इसमें यजुर्वेद के द्वितीय अध्याय की व्याख्या है। इसका विषय है "श्रेष्ठतम कर्म की स्थिर परम्परा के लिये गृहस्थाश्रम की सुव्यवस्था"। इसके अवलोकन से संसार को गृहस्थाश्रम के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान और उसके महत्त्व का भान होगा।

३. तृतीय पुष्प (दो रुपये)

इसमें यजुर्वेद के तृतीय अध्याय की व्याख्या है। इसका विषय है "गृहस्थाश्रम में विविध कर्तव्य कर्मों का निर्वहन तथा जीवन के प्रत्येक पार्श्व में समस्त संघर्षों का संवहन करते हुए आत्मसाधना तथा आध्यात्मिक प्रसाधना के मार्ग का प्रशस्तीकरण"।

४. चतुर्थ पुष्प (एक रुपया)

इसमें यजुर्वेद के चौथे अध्याय की व्याख्या है। इसका विषय है "सम्पूर्ण पृथिवी का दिव्यीकरण"। हमें विश्व का आर्यकरण ही नहीं, दिव्यीकरण भी करना है। वह किस प्रकार? यह इस ग्रन्थ के अवलोकन से ज्ञात होगा।

५. पञ्चम पुष्प (डेढ़ रुपया)

इसमें यजुर्वेद के पांचवें अध्याय की व्याख्या है। इसका विषय है पृथिवी के दिव्यीकरण की परम्परा को स्थायी रखने के लिये दिव्य दम्पतियों के निर्माण की व्यवस्था।

विदेहकृत योगाभ्यास ग्रन्थमाला

१. साधना (एक रुपया)

इसके प्रकाशन से राजयोग का राजमार्ग सबके लिये प्रशस्त होगया है। आदर्श चरित्र और आदर्श जीवन के निर्माण का यह सर्वोत्तम मार्गदर्शक है। विश्व-निर्माण की वास्तविक रूपरेखा इस ग्रन्थ से प्रकट होगी।

२. वैदिक योगपद्धति (३७ न. पै.)

इस पुस्तक में वेदमन्त्रों के आधार पर कुल १२ शिक्षायें हैं। इन शिक्षाओं पर आचरण करने से योगाभ्यासियों को योगशील की प्राप्ति होगी। शील के बन जाने पर अभीष्ट की सिद्धि अतिशय सहज और सरल होजाती है।

३. सन्ध्या-योग (२५ न. पै.)

इसमें सन्ध्योपासना के मन्त्रों पर योग के आठों अंगों से समन्वित मौलिक और हृदयग्राही व्याख्या हैं, जिसके अनुशीलन और अभ्यास से अष्टाङ्ग योग की सिद्धि होगी।

४. गायत्री मन्त्र का अनुष्ठान (२५ न. पै.)

इस पुस्तक में प्रदर्शित पद्धति से गायत्री मन्त्र का अनुष्ठान करने से निश्चय ही देव सविता के वरेण्य भर्ग का साक्षात्कार होगा।

५. महामृत्युञ्जय मन्त्र का अनुष्ठान (२५ न.पै.)

विघ्न, बाधा, भोग, रोग, दरिद्रता, क्लेश और मृत्यु पर विजय प्राप्त करते हुए मोक्ष की प्राप्ति के लिये इस मन्त्र का अनुष्ठान किया जाता है। इस पुस्तक में इस मन्त्र के अनुष्ठान की शुद्ध विधि है।

विदेहकृत अन्य प्रकाशन

१. गायत्री (एक रुपया)

इस ग्रन्थरत्न में ऋग्वेद के ५२ गायत्री-छन्द-मन्त्रों पर लिखी गयी व्याख्यामय प्रार्थनाओं का हृदयग्राही संग्रह है। सभी प्रार्थनायें दैनिक जीवन में मार्ग प्रदर्शन करनेवाली और जीवन को ऊंचा उठानेवाली हैं।

२. रामचरित (डेढ़ रुपया)

इस पुस्तक में वाल्मीकीय रामायण की कथा को धारावाही, सरस, सुबोध भाषा में प्रस्तुत किया गया है। साथ ही असम्भव व अलौकिक प्रतीत होनेवाली समस्त घटनाओं की समाधानकारक संगति भी लगायी गयी है।

३. स्वस्ति-याग (७५ न. पै.)

चारों वेदों के स्वस्ति, शं, शान्ति और ईशनमस्कार के मन्त्रों से समन्वित यह एक आदर्श यज्ञविधि है, जिससे चतुर्वेद पारायण यज्ञ का पुण्य-लाभ तो होता ही है, सुख शान्ति और प्रभु का आशीर्वाद भी प्राप्त होता है।

४. सार्वभौम आर्य साम्राज्य (५० न. पै.)

इसमें वेदमन्त्रों के आधार पर यह प्रदर्शित किया गया है कि किन आधारों पर और किस प्रकार भारत को आर्य राष्ट्र बनाकर विश्व में सार्वभौम आर्य साम्राज्य की प्रस्थापना की जा सकती है।

५. वैदिक बालशिक्ष[illegible]

६. वैदिक बालशिक्ष[illegible]

प्रत्येक भाग में वेदसू[illegible] मनोहर शिक्षायें हैं। अ[illegible] सुशील, सदाचारी, धर्मात्म[illegible] लिये ये आदर्श पुस्तकें उनके [illegible]

७. संस्कृत-शिक्षा, प्र[illegible]

इसमें वेद, संस्कृत व [illegible] नियम बड़ी सरलता से [illegible]

८. संस्कृत-शिक्षा, द्वितीय भाग ([illegible])

इससे वेद, संस्कृत व [illegible] अध्ययन नितान्त सरल और सुगम होगया है।

९. सत्यनारायण की कथा (३७ न. पै.)

वेदमन्त्रों के आधार पर लिखी गयी इस कथा का कुल कार्यक्रम एक घण्टे का है। कथा की रीति अतिशय सरल और रोचक है। सत्यनारायण [illegible] और सत्यनारायण के साक्षात्कार के उपाय [illegible] सुन्दर ढंग से उद्घाटन किया गया है।

१०. सत्सङ्ग-गीतावली (३७ न. पै.)

सत्संग में गाये जाने योग्य विदेह-रचित आत्मगीतों का यह सुन्दर संग्रह है। पक्के राग भी इसमें पर्याप्त संख्या में हैं।

११. यज्ञोपवीत-रहस्य (६ न. पै.)

इस पुस्तिका में यज्ञोपवीत-धारण के रहस्य समाधानकारक रीति से समझाये हैं।

१२. दिव्य भावना (६ न. पै.)

संक्षिप्त और सुन्दर आत्मशंसन [Autosuggestion]।

१३. दयानन्द-चरितामृत (एक रुपया)

तुलसीकृत रामायण की शैली पर सरल व सरस भाषा में लिखा गया यह ग्रन्थ महर्षि दयानन्द की जीवनगाथा को रोचकता के साथ घर-घर पहुंचायेगा।

१४. वैदिक सत्सङ्ग (३७ न. पै.)

दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक तथा मासिक सत्संगों के लिये यह एक आदर्श पद्धति है। सन्ध्या, हवन तथा शान्ति-पाठ के मन्त्रों का सुबोध अर्थ भी दिया हुआ है।

पता:—व्यवस्थापक, वेदसंस्थान, अजमेर.